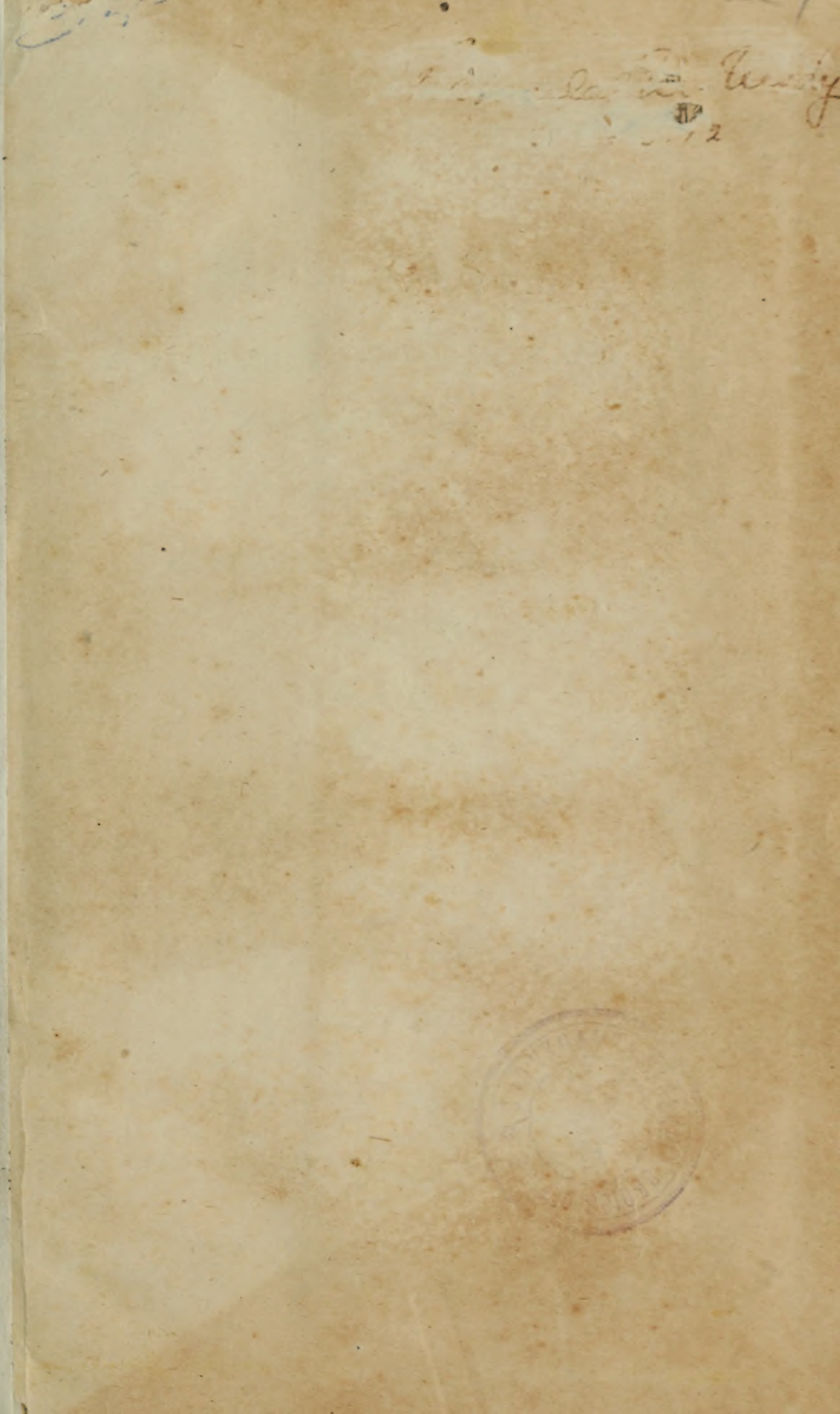


हठयोगप्रदीपिका.

भाषाटीकासमेता ।



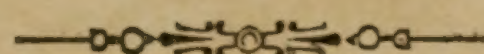
Svātmārāma, Swami

॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका।

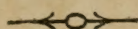
Hathayogapradipika

सहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्माराम-
योगीन्द्रविरचिता।



लाँखग्रामनिवासिपंडितमिहिरचन्द्रकृत-

भाषाटीकासमेता।



सेयं

खेमराज श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना

मुम्बय्यां

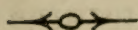
स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम) मुद्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशिता।

ज्येष्ठ संवत् १९६०, शाके १८२५.



प्रस्तावना.



देखो ! इस असारसंसारसे मोक्षके अर्थ तथा सर्व मनोगत अभीष्ट
सिद्धिद योगविषयमें हठविद्या है जो प्राणियोंके हितार्थ योगिराज शिव-
जीने पार्वती प्रति महाकाल योगशास्त्रमें वर्णन की है, उसी हठविद्याका
सेवन करके ब्रह्माजी ब्रह्मपदको प्राप्त हुए हैं. श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें
अर्जुनको और श्रीमद्भागवतमें उद्धवको उपदेश किया है. प्रायः ब्रह्मा,
विष्णु, महेश, नारद, याज्ञवल्क्य सभीने इसका सेवन किया है. मत्स्ये-
न्द्रनाथ और गोरखनाथजीने प्रथम शिवजीसे हठयोग श्रवण किया,
उन्हीं गोरखनाथजीकी कृपासे स्वात्मारामयोगीन्द्रने सर्व मुमुक्षुओंके
मोक्षप्राप्त्यर्थ "**हठयोगप्रदीपिका**" नामक ग्रन्थ चार उपदेशोंमें रचना
किया. प्रथमोपदेशमें यम नियम सहित हठका प्रथमांग आसन, द्वितीयो-
पदेशमें प्राणायामप्रकरण, तृतीयोपदेशमें मुद्राप्रकरण, चतुर्थोपदेशमें
प्रत्याहारादिरूप समाधिक्रम वर्णन किये हैं. उक्तग्रन्थ जोत्स्नाभिधा संस्कृत
टीका होनेपरभी सर्व सामान्यको सुगम न हुवा. अतएव हमने सर्व मुमु-
क्षुओंके लाभार्थ पं० मिहिरचन्द्रजीके द्वारा यथातथ्य भाषानुवाद कराय
स्वच्छतापूर्वक छापके प्रकाश किया है ।

आशा है कि, सर्वसज्जन अवलोकन कर हमारा उत्साह बढ़ावेंगे ।

आपकाकृपाकांक्षी–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालयाध्यक्ष–मुंबई.

अथ हठयोगप्रदीपिकानुक्रमणिका।

अथ प्रथमोपदेशः ।

द्वितीयोपदेशः ।

अथ तृतीयोपदेशः ।

अथ चतुर्थोपदेशः ।

इत्यनुक्रमणिका समाप्ता ।

॥ श्री. ॥

हठयोगप्रदीपिका.

भाषाटीकासमेता।

प्रथमोपदेशः १.

मू०–श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ॥ विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ नत्वा साम्बं ब्रह्मरूपं भाषायां योगबोधिका ॥ मया मिहिरचंद्रेण तन्यते हठदीपिका ॥ १ ॥ मोक्षके अभिलाषी जनोंके हितार्थ राजयोगकेद्वारा मोक्ष है फल जिसका ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको रचतेहुये परमदयालु स्वात्माराम योगींद्र ग्रंथमें विघ्ननिवृत्तिके लिये हठयोगकी प्रवृत्तिके कर्ता जो श्रीमान् आदिनाथ (शिव) जी हैं उनके नमस्काररूप मंगलको ग्रंथके प्रारंभमें करते हैं कि, श्रीमान् जो आदिनाथ अर्थात् सनातन स्वामी शिवजी हैं उनको नमस्कार हो अथवा श्रीशब्द है आदिमें जिसके ऐसा जो नाथ (विष्णु) वा श्रीलक्ष्मीसे युक्त जो नाथ विष्णु हैं उनके अर्थ नमस्कार हो। कदाचित् कहो कि, श्रीआदिनाथाय इस पदमें श्री शब्दके ईकारको [१]इस सूत्रसे यकार क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं, क्योंकि छंदके ज्ञाताओंका यह संप्रदाय है कि, चाहै माषके स्थानमें भी मषपदको लिखै परंतु छंदका भंग न करै और उच्चारण करनेमें भी सुगमताहै इससे सूत्रसे प्राप्तभी यकार ग्रंथकारने नहीं किया सिद्धांत तो यहहै कि, श्रीआदिनाथाय इस पाठकी अपेक्षा श्र्यादिनाथाय यह

---

१ इको यणचि। इक्को यण् हो अच् परे होत संते।

पाठ लाघवसे युक्तहै क्योंकि आदिनाथाय इस पाठमें व्याकरणके किसी सूत्रकी प्राप्ति नहीं है इससे यह परिनिष्ठित (सिद्ध हुआ) है और श्री आदिनाथाय इस पाठमें 'इकोयणाचि' इस सूत्रकी प्राप्तिकी शंका बनी रहतीहै—और जो दो दृष्टान्त दिये हैं (माष मष—उच्चारणमें सुगमता) वे भी ऐसे विषयसे विषम हैं अर्थात् सूत्रकी प्राप्तिको नहीं हटा सकते और व्याकरणशास्त्रके ज्ञाता साहित्य (छंद) के भंगका जो दोष उसको नहीं मानते—और असंमृष्ट (शास्त्रसे अशुद्ध) विधानरूप दोष यद्यपि साहित्यके रचनेवालोंने कहाहै तथापि कहीं२ उन्होंने भी मानाहै—और व्याकरणशास्त्रके आचार्यों ने (एकोज्) इस पाठके स्थानमें कर्मधारय समास करके (एकाज्) असंमृष्ट विधानको नहीं माना है—इससे श्र्यादिनाथाय इस पाठमेंही लाघव है इस बातका बुद्धिमान् मनुष्य विचार करो—तात्पर्य यह है कि, उस आदिनाथको नमस्कारहै जिसने पार्वतीके प्रति हठयोगविद्याका उपदेश किया और जिसप्रकार शिवजीने पार्वतीके प्रति हठयोगका उपदेश किया है वह प्रकार महाकाल योगशास्त्रमें प्रसिद्धहै और हठयोगविद्या शब्दका यह अर्थ है कि, ह (सूर्य) ठ (चंद्रमा) इन दोनोंका जो योग (एकता) अर्थात् सूर्यचंद्रमारूप जो प्राण अपान हैं उनकी एकतासे जो प्राणायाम वह हठयोग कहाताहै सोई सिद्धसिद्धांतपद्धतिमें गोरक्षनाथ आचार्यने इस वचनसे[1] कहाहै कि, हकारसे सूर्य और ठकारसे चंद्रमा कहा जाताहै सूर्य और चंद्रमाके योगसे हठयोग कहाताहै—उस हठयोगका जिससे प्रतिपादनहो उस विद्याको हठयोगविद्या कहतेहैं अर्थात हठयोग शास्त्रका नाम हठयोगविद्या है—और वह हठयोग विद्या सबसे उत्तम जो राजयोग अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो असंप्रज्ञातलक्षण समाधिहै उसके अभिलाषी मुमुक्षुको अधिरोहिणी (नसैनी) के समान विराजती है जैसे ऊँचे महलपर विना

---

१ हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते ॥ सूर्याचंद्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ।

परिश्रमही नसैनी पहुँचा देती है. इसीप्रकार यह हठयोगविद्याभी सर्वोत्तम राजयोगपर चढनेके लिये मुमुक्षुको अनायाससे राजयोगमें प्राप्त कर देतीहै–इस श्लोकमें उपमा अलंकार और इंद्रवज्राछंद है–भावार्थ–यह है कि, जिस श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने पार्वतीके प्रति वह हठयोग विद्या कही है जो सर्वोत्तम राजयोगपर चढनेके लिये अधिरोहिणीके समान है उस श्रीआदिनाथको नमस्कार हो अर्थात् उसको नमस्कार करताहूं ॥ १ ॥

मू०–प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार परमगुरुको नमस्कार करके अधिक विघ्नोंकी आशंकामें अधिकही मंगलकी अपेक्षा होती है इस अभिप्रायसे अपने गुरुके नमस्काररूप मंगलको करते हुये ग्रंथकार ग्रंथके विषय, संबंध, प्रयोजन, अधिकारियोंको दिखाते हैं कि, श्रीमान् जो अपने गुरुनाथ (स्वामी) हैं उनको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके स्वात्माराम नामका जो मैं योगी हूं वह केवल राजयोगकी प्राप्तिके लिये हठविद्याका उपदेश (कथन) करता है–अर्थात् हठविद्याका मुख्य फल केवल राजयोगही है। सिद्धि नहीं है, क्योंकि सिद्धि तो यत्नके विना प्रसंगसेही होजाती हैं–इससे यह सूचित किया कि, राजयोगरूप फलसहित हठयोग इस ग्रंथका विषय है और राजयोगद्वारा मोक्ष फल (प्रयोजन) है–और फलका अभिलाषी अधिकारी है और ग्रंथ और विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव संबंध है अर्थात् ग्रंथ विषयका प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है और ग्रंथ और मोक्षका प्रयोज्य प्रयोजकभाव संबंध है क्योंकि ग्रंथभी हठयोगकेद्वारा मोक्षका कारण है–और ग्रंथ और अभिधेय (विषय) फल योग और मोक्ष इनका साध्यसाधनभाव संबंध है ये सब बात इस श्लोकमें कही हैं। भावार्थ–यह है कि, मै स्वात्माराम योगी अपने श्रीगुरुनाथको भलीप्रकार नमस्कार करके केवल राजयोगके लिये हठविद्याका उपदेश करताहूं ॥ २ ॥

मू०–भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ॥
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि, मंत्रयोग-सगुणध्यान-निर्गुणध्यान-मुद्रा आदिसेही राजयोग सिद्ध होजायगा हठयोगविद्याके उपदेशका क्या फल है सो ठीक नहीं, क्योंकि जिनका चित्त व्युत्थित (चंचल) है उनको मंत्रयोग आदिसे राजयोगकीसिद्धि नहीं होसकती इससे हठयोगके द्वाराही राजयोगकी सिद्धिको कहते हुये ग्रंथकार ग्रंथके आरंभकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, मंत्रयोग आदि अनेक मतोंका जो गाढ अंधकार उसके विषे भ्रमसे राजयोगको जो नहीं जानते हैं उनकोभी राजयोगका ज्ञान जिससे हो ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको कृपाके कर्ता (दयालु) स्वात्मारामयोगी अर्थात् अपने आत्मामें रमणके कर्ता स्वात्माराम-करते हैं अर्थात् हठयोगके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं अथवा राजयोगके प्रकाशक जो हठ (सूर्य चंद्र) उनके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं-स्वात्माराम इस पदसे यह सूचित किया है कि, ज्ञानकी सातवीं भूमिकाको प्राप्त ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है सोई इस श्रुतिमें[1] लिखा है कि, आत्मामें है क्रीडा और रमण जिसका ऐसा जो क्रियावान् है वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है और सात भूमियोग वासिष्ठमें[2] कही है कि, शुभेच्छा १,विचारणा २, तनुमानसा ३, सत्वापत्ति ४, असंसक्ति५, परार्थभाविनी६, तुर्यगा७, ये सात ज्ञानभूमि योगकी हैं इन सातोंमें शुभेच्छा है नाम जिसका और विवेक और वैराग्यसे युक्त और शमदम आदि हैं पूर्व जिसके और तीव्र (प्रबल) है मोक्षकी इच्छा जिसमें ऐसी ज्ञानकी भूमि प्रथम योगीजनोंनें कही है १–और श्रवण मनन आदिरूप विचारणा ज्ञानकी दूसरी भूमि होती है २–अनेक विषयोंका ग्राहक मन अनेक विषयोंको त्यागकर एक (ब्रह्म) विषयमें ही वृत्तिके प्रवाहवाला होजाय तनु

---

१ आत्मक्रीडआत्मरतिःक्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः । २ ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । परार्थभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥

(सूक्ष्म) है मन जिसमें ऐसी वह निदिध्यासनरूप तनुमानसा नामकी तीसरी भूमि होती है ३ ये तीन साधनभूमि कहाती हैं, इन भूमियोंमें योगी साधक कहाताहै–इन तीन भूमियोंसे शुद्ध हुये अंतःकरणमें मैं ब्रह्महूं यह जो ब्रह्माकार अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) वृत्तिहै वह सत्त्वापत्ति नामकी चौथी भूमि कहाती है ४ इन चारोंसे अगली जो तीन भूमि हैं वे असंप्रज्ञात योगभूमि कहाती हैं–सत्वापत्तिके अनंतर इसी सत्वापत्ति भूमिमें उपस्थित (प्राप्त) हुई जो सिद्धि हैं उनमें असंसक्त योगीको असंसक्ति नामकी पांचवीं ज्ञानभूमि होती है। इस भूमिमें योगी स्वयंही व्युत्थित होता (उठता)है और वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ कहाताहै। ५ जिसमें परब्रह्मसे भिन्नकी भावना (विचार) न रहै वह परार्थभाविनी नामकी छठी भूमि होतीहै–इसमें योगी दूसरेके उठानेसेही उठता है और ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठ कहाताहै ६–और जिसमें तुरीय पदमें योगी पहुँचजाय वह तुर्यगा नामकी सातवीं ज्ञानभूमि है इसमें योगी स्वयं वा अन्य पुरुषसे नहीं उठता है इसमें प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठसेभी उत्तम कहाताहै इसमें प्रमाणरूप यह श्रुतिही कहीहै कि, पहिली भूमियोंमें इसकोही जीवन्मुक्त कहते हैं और उसकोही इस सातवीं भूमिमें स्वात्माराम कहते हैं–इसप्रकार अधिक कहनेसे पूर्ण हुये अर्थात् अधिक नहीं कहते हैं।भावार्थ यह है कि, अनेकमतोंके कियेहुये अंधकारमें राजयोगको जो नहीं जानसकते उनके लिये दयाके समुद्र स्वात्माराम "हठयोगप्रदीपिका" को करते हैं ॥ ३ ॥

मूल–हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ॥
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

भाषार्थ–महान् पुरुषोंके माननेसे हठविद्याकी प्रशंसा करतेहुये ग्रंथकार अपनेकोभी महत्पुरुषोंसेही हठविद्याका लाभ हुआहै इससे अपनाभी गौरव (बडाई) द्योतन करते हैं कि, मत्स्येंद्र और गोरक्ष आदि

---

१ पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते स एवात्र स्वात्मारामपदेनोक्तः ।

हठविद्याको निश्चयसे विशेषकर जानते हैं यहां आद्यशब्दके पढनेसे जालंधरनाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद आदि भी जानते हैं यह सूचित किया–अर्थात साधन, लक्षणभेद, फल इनको भी जानते हैं अथवा स्वात्माराम योगी भी गोरक्षआदिके प्रसादसे हठविद्याको जानता है–और सबके परम महान् ब्रह्मानेभी इस विद्याका सेवन कियाहै इसमें यह योगीयाज्ञवल्क्यकी स्मृति प्रमाण है कि, सबसे पुराने योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं अन्य नहीं है–और कहना तभी होता है जब मानसव्यापार (मनसे विचार) पहिले होचुका हो वह मानसव्यापार आगम (वेद) लेना सोई इसे श्रुतिमें लिखा है कि, जिसका मनसे ध्यान करता है उसकोही वाणीसे कहता है–भगवान्ने भी यह विद्या उद्धवआदिभागवतोंके प्रति कहीहै और शिवजी तो योगी प्रसिद्धही हैं–इससे ब्रह्मा विष्णु शिव इन्होंनेभी इस हठयोगविद्याका सेवन कियाहै–कदाचित् कहो कि, ब्रह्मसूत्रोंके कर्ता व्यासने योगका खंडन कियाहै सो ठीक नहीं. क्योंकि प्रकृतिको स्वतंत्र मानते हुये उन्होंने भेदरूप आशंका ही खंडन कियाहै कुछ भावना विशेषरूप योगका खंडन नहीं कियाहै–और भावना तो व्यासको भी इससे संमतहै कि, भावनाके विना सुख नहीं होसकता सोई भगवद्गीतामें कहा है जो योगी नहीं है उसको बुद्धि नहीं है और न उसको भावना होती है–और भावनाके विना शांति नहीं होती और शांतिसे योग जिसको नहीं उसको सुख कहाँसे होसकताहै नारायणतीर्थोंने भी कहा है कि, स्वतंत्र सत्यताहै मुख्य जिसमें ऐसा सत्य जो चेतनके भेदसे प्रधान (प्रकृति) में प्रतीत होताहै उसका खंडन वाक्योंसे व्यासजीने कियाहै कुछ अपने रचेहुये ब्रह्मसूत्रोंसे वर्णन किये भावना नामके योगका खंडन व्यासजीने

---

१ हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः । २ यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति । ३ नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् । ४ स्वातंत्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः । व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः । अपि चात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम् । भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः । मतोयोगो भगवता गीतायामधिकोन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्रसंतोऽतिसादराः ।

नहीं कियाहै–और आत्माके प्रापकयोगका कथन बुद्धिमान् व्यासजीने स्वयं कियाहै और तिसीसे भाष्य आदिमें आचार्यआदिकोंने मानाहै और भगवान् श्रीकृष्णचंद्रने गीतामें अधिक योग मानाहै–और शुकदेव आदिकोंने भी योगको रचाहै–तिससे इस योगमें बहुत संतोंका अत्यंत आदरहै–और भगवान्ने गीतामेंभी कहाहै कि, वेद–यज्ञ–तप–और दान इनमें जो पुण्य फल कहाहै–उस सबको योगी इस योगको जानकर लंघनकरताहै–और उत्तम जो–सनातनका स्थान (ब्रह्म) है-उसको प्राप्त होताहै–और योगको जाननेका अभिलाषी भी शब्दब्रह्मसे अधिक होताहै यह कहते हुए भगवान्ने योगके जिज्ञासुको भी उत्तम वर्णन कियाहै–योगी तो उत्तम क्यों न होगा और भक्तोंमें श्रेष्ठ नारद आदि मुनियोंमें मुख्य याज्ञवल्क्य आदिकोंने भी इस हठविद्याका सेवन कियाहै इससे भक्त और ज्ञानियोंकाभी इस विद्याके संग कुछ विरोध नहीं–इससे अधिक वर्णन करनेसे उपरामको प्राप्त होते हैं–भावार्थ–यह है कि, मत्स्येन्द्र और गोरक्षनाथ आदि हठविद्याको जानतेहैं और उनकी कृपासे स्वात्माराम योगी (मैं) जानताहूं ॥ ४ ॥

मूल–श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशावरानंदभैरवाः ॥
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ–अब हठयोगमें श्रोताओंकी प्रवृत्तिके हेतु उन सिद्धोंको वर्णन करते हैं कि, जिनको हठविद्यासे ऐश्वर्य मिलाहै और श्रीआदिनाथ अर्थात सबनाथोंमें प्रथम शिवजी शिवजीसेही नाथसंप्रदाय चलाहै । यह नाथसंप्रदायी लोग कहतेहैं–और उनके शिष्य मत्स्येन्द्र यहां यह इतिहास है किसी समयमें आदिनाथ किसी द्वीपमें स्थित थे वहां जनरहित देश समझकर पार्वतीके प्रति योगका उपदेश करतेथे तीरके समीप जलमें टिकाहुआ कोई मत्स्य उस योगोपदेशको सुनकर एकाग्रचित्त होकर

---

१ वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलम्प्रदिष्टम्।अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्, जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।

निश्चल देह टिकताभया । निश्चलकाय उस मत्स्यको देखकर और इसने योगका श्रवण किया यह मानकर कृपालु आदिनाथजीने उसके ऊपर जलका सिंचन किया प्रोक्षण करनेसेही वह मत्स्येन्द्र सिद्ध होगया उसकोही मत्स्येन्द्रनाथ कहतेहैं और शाबर नामका सिद्ध और आनंदभैरव और चौरंगी सिद्ध किसी समय आदिनाथसे मिलाहै योग जिनको ऐसे योगेन्द्र-नाथ भूमिमें रटतेथे उन्होंने कृपासे किसी वनमें टिकेहुए चौरंगीको देखा उनके देखनेसेही चौरंगीके हाथ और पाद जम आये क्योंकि हिंदुस्थानकी भाषामें जिसके हाथ पैर कटजाय उसे चौरंगी कहते हैं वह चौरंगी इन्हीं की कृपासे मेरे हाथ पैर हुए हैं यह मानकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रार्थना करता भया कि, मेरे ऊपर अनुग्रह करो मत्स्येन्द्रने भी उसके ऊपर अनुग्रह किया उससे वह चौरंगी नामका सिद्ध प्रसिद्ध भया और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्षनाथ, बिलेशयनाथ ये सिद्ध हठयोगविद्याके हुए और ॥ ५ ॥

मूल--मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ॥
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ॥
कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ॥
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥

भाषार्थ–मन्थान-भैरव-सिद्धि-बुद्ध-कन्थडि-कोरंटक-सुरानंद-सिद्ध-पाद-चर्पटी-कानेरी-पूज्यपाद-नित्यनाथ-निरंजन-कपाली-बिन्दुनाथ-काकच-ण्डीश्वर-अल्लाम- प्रभुदेव- घोडा- चोली- टिंटिणि- भानुकी- नारदेव- खण्ड कापालिक ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

मूल–इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥ ९ ॥

भावार्थ–इत्यादि पूर्वोक्त महासिद्ध यहां आदिपदसे तारानाथ आदि लेने हठयोगके प्रभावसे कालके दण्डको खण्डन करके अर्थात् देह और प्राण वियोगके जनक मृत्युको जीतकर ब्रह्मांडके मध्यमें विचरतेहैं अर्थात् अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मांडमें चाहैं जहां जा सकते हैं सोई भागवतमें इस वचनसे कहाहै कि, पवनके मध्यमें हैं मन जिनका ऐसे योगीश्वरोंकी गति त्रिलोकीके भीतर और बाहर होती है ॥ ९ ॥

मूल–अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

भावार्थ–अब हठयोगको संपूर्ण तापोंका नाशक और संपूर्ण योगोंका साधक मठ कमठरूपसे वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तीन प्रकारके ताप उनसे तपायमान मनुष्योंको हठयोग समाश्रय मठ (रहनेका घर) रूपहै । उन तापोंमें आध्यात्मिक ताप दोप्रकारका है–शारीर और मानस । उनमें शरीरका दुःख व्याधिसे होताहै और मनका दुःख काम आदिसे होताहै और व्याघ्र सर्प आदिसे उत्पन्न हुये दुःखको आधिभौतिक कहतेहैं और सूर्य आदि ग्रहोंसे उत्पन्न हुये दुःखको आधिदैविक कहते हैं इन तीन प्रकारके तापोंसे तप्तमनुष्योंको हठयोग इसप्रकार सुखदायीहै जैसे सूर्यसे तपायमान मनुष्योंको घर होताहै और अशेष (संपूर्ण) योगोंसे युक्त जो पुरुषहै उनका आधार इसप्रकार हठयोग है जैसे संपूर्ण जगत्का आधार कमठ है अर्थात् कच्छपरूप भगवान् रूपहै भावार्थ यहहै कि, संपूर्ण तापोंसे तपायमान मनुष्योंका आश्रय मठरूप और संपूर्ण योगियोंका आधार (आश्रय) कमठरूप हठयोग है ॥ १० ॥

मूल–हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

---

१ योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याःपवनान्तरात्मनाम् ।

भावार्थ–अब संपूर्ण विद्याओंकी अपेक्षा हठयोग विद्याको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं–सिद्धि अर्थात् अणिमा आदि ऐश्वर्य वा मोक्षके अभिलाषी योगीको हठविद्या अत्यंत गुप्त करने योग्यहै क्योंकि गुप्त कीहुई हठविद्या वीर्यवाली होती है अर्थात् ऐसे ऐश्वर्यको पैदा करती है कि, जो कदाचित् न डिगसकै और प्रकाश करनेसे वीर्यसे रहित हो जाती है अब प्रसंगसे योगके अधिकारीका वर्णन करते हैं कि जितेन्द्रिय[1] शान्त भोगोंमें आसक्त न हो और दोषोंसे रहितहो और मुक्तिका अभिलाषी हो और दोषोंसे अन्य जो संसारके धर्म हैं उनसे हीन न हो और आज्ञाकारी हो उसको ही हठयोगविद्या देनी अन्यको नहीं । याज्ञवल्क्यने[2] भी कहाहै कि, शास्त्रोक्त कर्मोंसे युक्त कामना और संकल्पसे रहित यम और नियमसे युक्त और संपूर्ण संगोंसे वर्जित और विद्यासे युक्त क्रोधरहित सत्य और धर्ममें परायण गुरुकी सेवामें रत पिता और माताका भक्त अपने गृहस्थ आदि आश्रममें स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानोंने जिसको भलीप्रकार शिक्षा दी हो ऐसा पुरुष योगका अधिकारी होताहै और यह भी कहीं लिखा[3] है कि, जो योगीका वेषधारी कामदेव और उदरके वशीभूत हो उसको योगका उपदेश न करै । इस विषयमें योगचिंतामणिके कर्ता तो यह कहतेहैं कि, यद्यपि इत्यादि पुराणवचनोंमें[4] प्राणीमात्रको योगमें अधिकार मिलताहै कि, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र स्त्री इनको पवित्र करनेवाला कर्मोंकी शांतिके लिये और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य नहींहै तो भी मोक्षरूप जो फलहै वह योगसे विरक्तकोही होताहै इससे विरक्तकोही योगका अधिकार उचितहै सोई वायुसंहितामें लिखा[5] है

---

१ जिताक्षाय–शान्ताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौअहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै । २ विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः । यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः ॥ कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ॥ स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः । ३ शिश्नोदररतायैव न देयं वेषधारिणे । ४ ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये । ५ दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः । यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित् ।

कि, लौकिक और वेदोक्त विषयोंमें जिसका मन विरक्त है उसकाही इस योगमें अधिकार है अन्य किसीका नहीं है। सुरेश्वराचार्यने भी कहाहै कि, इस लोक और परलोकके विषयोंमें जो विरक्त मनुष्य संसारके त्यागका अभिलाषीहै ऐसे किसीही जिज्ञासु पुरुषका योगमें अधिकारहै–इति। वृद्धोंने भी कहा है कि, यह योग दुर्विनीत (क्रोधी) को कदाचित् न देना क्योंकि गुप्त रक्खाहुआ योग भली प्रकारके फलको देताहै और अस्थान (कुपात्र) में स्थापन करतेही क्रोधहुयी वाणी उसी समय दग्ध करती है कुछ चिर-कालमें नहीं. भावार्थ यह है कि, सिद्धिका अभिलाषी योगी हठविद्याको भलीप्रकार गुप्त रक्खे क्योंकि गुप्त रखनेसे वीर्यवाली और प्रकाश करनेसे वीर्यरहित होती है ॥ ११ ॥

मूल--सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥
धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना॥१२॥

भाषार्थ–अब डेढ श्लोकसे हठयोगाभ्यासके योग्यदेशका वर्णन करतेहैं कि, जिस देशमें अच्छा राजा हो क्योंकि जैसा राजा वैसीही प्रजा इस महान् पुरुषोंके वचनसे शोभन राजाके होनेपर प्रजाभी शोभन होगी यह सूचित समझना। और जो देश धर्मवान् हो इससे यह सूचित किया कि, धार्मिक देशमें हठयोगके अभ्यासीको अनुकूल भोजन आदिका लाभ होता रहेगा और जिस देशमें भिक्षा अच्छी मिलती हो इससे यह सूचित किया कि,विना परिश्रम भिक्षाका लाभ होगा और जो चोर और व्याघ्र आ-दिके उपद्रवोंसे रहित हो इससे यह सूचित किया कि,वह देश दीर्घ काल-तक वसने योग्य है और जहां आसन हो उसके चारों तरफ धनुष प्रमाण

१ इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः। जिज्ञासोरेवकस्यापि योगेस्मिन्नधिकारिता। २ नैतद्देयं दुर्विनीताय जातु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय। अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपान्निर्दहेन्नोऽचिराय। १यथा राजा तथा प्रजाः।

पर्यंत (४ हाथभर) शिला अग्नि जल ये नहों इससे शीत उष्णके विकार का अभाव सूचित किया और जो एकांत (विजन) हो इससे जनोंके समागमाभावसे कलहआदिका अभाव सूचित किया, क्योंकि जहां जनोंका समूह होताहै वहां कलह आदि होतेहीहैं सोई भागवतमें कहाहै कि, बहुत मनुष्योंके वासमें कलह होताहै और दोमनुष्योंकी भी बात होने लगतीहै ऐसे पूर्वोक्त देशमें जो मठिका (छोटा गृह) उसके मध्यमें हठयोगका अभ्यासी योगी अपनी स्थिति करने योग्यहै इससे शीत धूप आदिके क्लेशका अभाव सूचित किया यहां किसीनें यहै आधाश्लोक प्रक्षिप्त (बनाकर) लिखा है उसका हमने अर्थ नहीं लिखा कि, वह प्रक्षिप्त है,क्योंकि मूलके श्लोकोंकाही व्याख्यान हमनेकियाहै इसी प्रकार आगे भी जिनश्लोकोंका हमने व्याख्यान नहीं किया और वे हठदीपिकामें मिलजाय तो वे सब प्रक्षिप्त जानने- भावार्थ यहहै कि, जहाँ सुंदरराज्य हो जो धार्मिक हो जहाँ सुभिक्ष हो उपद्रवन हो और जहां धनुषके प्रमाणपर्यंत शिला अग्निजल ये न हो और जो एकांत हो ऐसे देशमें छोटासा मठ बनाकर हठयोगी रहै ॥ १२ ॥

मूल–अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ॥
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तंयोगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः १३

भाषार्थ–अब मठके लक्षणका वर्णन करतेहैं कि, जिसका छोटा द्वार हो– और जिसमें गवाक्ष आदि रंध्र (छिद्र) न हों और गर्त (गढा) न हो और जिसमें मूसे आदिका विवर (बिळ) न हो–और न अत्यन्त ऊँचाहो और न अत्यन्त नीचाहो और न अत्यन्त विस्तारसे युक्तहो-क्योंकि अत्यंत ऊंचे पर चढनेमें और अत्यंत नीचेसे उतरनेमें श्रम होताहै और अत्यंत विस्तार संयुक्तमें दूर दृष्टि जातीहै इससे इन सब आसनोंका निषेध कियाहै–कदा-

---

१ वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ताद्वयोरपि । २ युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये ।

चित् कहो कि,अत्युच्च नीच आयत इन तीनों शब्दोंका अर्थ भिन्न २ है इससे इनका कर्मधारय समास कैसे होगा क्योंकि कर्मधारयसमास उन पदोंका हुआ करैहै जिनका अर्थ एक हुआ करताहै सोई इस सूत्रमें लिखाहै कि, समानाधिकरण तत्पुरुषको कर्मधारय कहते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि मठमें तीनों पदोंका सामानाधिकरण्य है अर्थात् अत्युच्च नीच आयतरूप जो-मठ उससे भिन्न मठ हो क्योंकि अत्युच्चनीचायत शब्दके संग न शब्दको समास होताहै और न लोप नहीं होता अथवा न यह पृथक्‌ही पद है-इससे यह विशेषण विशेष्यके संग समासको प्राप्त होताहै इस सूत्रसे कर्मधारय समास करनेमें कोई भी शंका नहीं है और जो मठ भलीप्रकार चिकने गोबरसे लिपा हो और निर्मल (स्वच्छ) हो और जो मशक मत्कुण आदि जंतु-ओंसे रहित हो-और जो मठके बाहर देशमें मंडप वेदी कूप इनसे शोभित हो और जो भलीप्रकार प्राकार (परकोटा) से वेष्टित (भीत-से युक्त (हो-यह पूर्वोक्त योगमठका लक्षण हठयोगके अभ्यास करनेवाले सिद्धों ने कहाहै-नंदिकेश्वर पुराणमें तो यह मठका लक्षण कहाहै, कि जिस मंदिरकी रचना रमणीय हो-जो मनको प्रिय हो-सुगंधितहो-धूपकी अत्यन्त गंधसे सुगंधितहो-पुष्पोंके समूहसे मंडित हो-और जो मुनि तीर्थ नदी वृक्ष कमलिनी पर्वत इनसे शोभित हो-और जिसमें चित्राम निकसेहों-और जो चित्रोंके भेदसे विचित्र हो बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे रमणीय योग घरको शुभ मार्गसे करै-क्योंकि चित्रामोंमें लिखे शांत मुनियोंको देखकर मन शांत होताहै और चित्रामोंके सिद्धोंको देखकर बुद्धिमें उद्यम बढताहै योगघरके मध्यमें संसारके मंडलको लिखै और कहीं २ श्मशान और घोर नरकोंको लिखै क्योंकि उन भयानक नरकोंको देखकर सिद्धिके अभिलाषी योगीको असार संसारमें अनवसाद (अनिश्चय) होताहै क्योंकि नरकोंमें रोगी उन्मत्त व्रणी (घाववाले) जंतु दीखतेहैं-अर्थात् योगमें प्रवृत्ति न होगी तो ऐसेही नरक मुझे भी मिलें गे। भावार्थ यह है कि, जिसका छोटासा द्वारहो जिसमें

१ तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः । २ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ।

छिद्र गढे बिल न हों–और जो अत्यन्त ऊंचा विस्तृत न हो और जो भली-प्रकार चिकने गोमयसे लिपाहो और जो स्वच्छ हो और जिसमें कोई जीव न हो और जिसके बाहर मंडपवेदी कूप हों और शोभित हो और जिसके चारों तर्फ प्राकार (भींत) हो यह योग मठका लक्षण हठयोगके अभ्यास कर्ता सिद्धोंने कहाहै ॥ १३ ॥

मूल–एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ १४ ॥

भाषार्थ–मठके लक्षण कहकर मठमें करने योग्य कर्मोंको कहते हैं कि, संपूर्ण चिंताओंसे रहित मनुष्य इसप्रकारके मठमें स्थित होकर गुरुने उपदेश किया जो मार्ग उससे सदैव योगका अभ्यास करै और यहां एवं पदसे यह सूचित किया कि, अन्य कर्मका अभ्यास विघ्नकारी होताहै. सोई योगबीजमें कहाहै[१] कि, जिसने वायुको जीत रक्खाहो उस गुरुकी सदैव सेवा करै और बुद्धिमान् मनुष्य गुरुके मुखारविंदके प्रसादसे प्राणोंका जय करैं राजयोगमें भी लिखाहै[२] कि, वेदांत और तर्कोंके वचन वेद और नाना प्रकारके शास्त्रोंके समूह और ध्यान आदि और वशीभूत इंद्रियें इनसे चिंतामणि (योग) की प्राप्ति एक गुरुको छोडकर नहीं होती अर्थात् गुरुके द्वाराही योगकी प्राप्ति होती है स्कंदपुराणमें भी लिखा[३] है कि, स्थिर बुद्धि मनुष्य आचार्य गुरुसे योगके सर्वस्व (पूर्ण) को जानकर यथोक्त (शास्त्रोक्त) फलको प्राप्त होताहै और निर्वृति (आनंद) कोभी प्राप्त होताहै. सुरेश्वराचार्यने भी कहा[४]है कि, गुरुके प्रसादसे अष्टांगसहित योगको प्राप्त होताहै और शिवजीके प्रसादसे सनातनकी जो योगसिद्धि उसको प्राप्त होताहै. जिस

---

१ मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुंसदा । गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः । २ वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च।ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिंतामणिर्ह्येकगुरुंविहाय । ३ आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम्। यथोक्तं लभतेमोक्षंप्राप्नोत्यपि च निर्वृतिम् । ४ गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टांगसंयुतम् । शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम् । यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाःप्रकाशंते महात्मनः।

की देवतामें परम भक्तिहै और जैसी देवतामें है वैसी ही भक्ति गुरुमें है उस महात्माको शास्त्रमें कहे ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं और श्रुतिमें भी कहा है कि, वही पुरुषजानताहै जो आचार्य वालाहै।[1] भावार्थ यह है कि, इस पूर्वोक्तप्रकारके मठमें स्थित होकर संपूर्ण चिंताओंसे रहित मनुष्य गुरु के उपदेश किये मार्गसे सदैव योगका अभ्यास करै ॥ १४ ॥

मूल–अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥१५॥

भावार्थ–अब योगाभ्यासके प्रतिबंधकोंको कहते हैं कि, अत्याहार अर्थात् क्षुधासे अधिक भोजन प्रयास अर्थात् परिश्रम जिसमें हो ऐसा व्यापार प्रजल्प (बहुत बोलना) नियमोंका ग्रहण अर्थात् शीतल जलसे प्रातःकालस्नान, रात्रिमें ही भोजन फलाहार आदिका नियम करना और जनोंका संग क्योंकि वहभी काम आदिको पैदा करताहै और चंचलता इन अत्याहार आदि छः इसे योग विशेषकर नष्ट होताहै ॥ १५ ॥

मूल–उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्धयति ॥ १६ ॥

भावार्थ–अब योगके साधकोंको कहते हैं कि, विषयोंमें लगे चित्त कोभी रोक लूंगा यह उद्यमरूप उत्साह और साध्य असाध्यको विचार कर शीघ्र प्रवृत्तिरूप साहस और धैर्य जीवन पर्यंतमें तो सिद्ध होहीगा इस खेदके अभावको धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णाके जल की तुल्य विषय मिथ्या है और ब्रह्मही सत्य है यह वास्तविक (सत्य) ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान और निश्चय अर्थात् शास्त्र और गुरुके वाक्योंमें विश्वास श्रद्धा और योगाभ्यासके विरोधीजनोंका जो समागम उसका परित्याग इन छः वस्तुओंसे योग शीघ्र सिद्ध होताहै ॥ १६ ॥

---

१ आचार्यवान्पुरुषो वेद ।

अथ यमनियमाः ।

मूल--"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ॥
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १ ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥
सिद्धांतवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥ २ ॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः" ॥

भाषार्थ–हिंसाका त्याग सत्य–चोरीका त्याग ब्रह्मचर्य–क्षमा धीरता–दया–नम्रता–प्रमितभोजन ये दश यम कहाते हैं–और तप संतोष–आस्तिकता (परलोकको मानना)–दान–ईश्वरका पूजन सिद्धांतवाक्योंका श्रवण–लज्जा–बुद्धि–तप–होम ये दश नियम योगशास्त्रके पंडितोंने कहे हैं २॥ ये अढाईश्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

मूल–हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ–प्रथम आसनके कथनमें संगतिको और आसनके फलको कहते हैं कि, हठयोगका प्रथम अंग होनेसे आसनको प्रथम कहते हैं कि, ये योगके चार अंग कहेंगे कि, आसन कुंभक (प्राणायाम) विचित्र मुद्राओंको करना और नादका अनुसंधान और प्रत्याहारसे समाधिपर्यंतोंका अंतर्भाव नादमें है उन चारोंमें आसन प्रथम अंग है इससे उसकाही पहिले वर्णन करते हैं कि, तिस आसनकी स्थिरता इसलिये करै कि, देह और मनकी चंचलतारूप जो रजोगुणका धर्म उसका नाशक आसनहै क्योंकि इस वचनमें[1] यह लिखाहै कि, योगी आसनसे रजोगुणको नष्ट करताहै और आरोग्यकारकहै अर्थात् चित्तको विक्षेपक रोग नहीं होताहै क्योंकि पतं-

१ आसनेन रजो हंति ।

जलिके इसे सूत्रमें रोगकोभी चित्तका विक्षेपक कहाहै कि, व्याधि--उत्थान संशय–प्रमाद–आलस्य–अविरति–भ्रांति–दर्शन अलब्धभूमि (पूर्वोक्त भूमियोंका न मिलना) अनवस्थित (चंचलता) ये चित्तके विक्षेपरूप विघ्न हैं और अंगोंका लाघव क्योंकि वह लाघव गौरवरूप तमोगुणके धर्मका नाशक है और चकारके पढनेसे क्षुधाकी वृद्धि आदिभी समझने अर्थात् ऐसा आसन हो जो स्थिर नीरोग अंगोंका लाघव उत्पन्नकरै और जिससे क्षुधा न बढै ॥ १७ ॥

मूल--वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ॥
अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानिचिन्मया ॥१८॥

भावार्थ–वसिष्ठ आदिकोंके संमत जो आसन हैं उनमें श्रेष्ठ २ आसनोंके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, वसिष्ठ है आदिमें जिनके ऐसे मननके कर्ता मुनियोंने और चकारके पढनेसे मंत्रके ज्ञाताओंने और मत्स्येंद्रहै आदिमें जिनके ऐसे योगियों (जालंधरनाथ आदि) ने अर्थात हठयोगके अभ्यासियोंने और चकारके पढनेसे मुद्रा आदिके ज्ञाताओंने अंगीकार किये जो चौराशी ८४ आसन हैं उनमें कितनेक श्रेष्ठ आसनोंको मैं कहताहूं यद्यपि दोनोंको मनन और हठयोगका अभ्यास था तथापि वसिष्ठ आदिकोंका तो मनन मुख्य रहा और मत्स्येंद्र आदिकोंको हठयोगका अभ्यास मुख्य रहा इससे दोनोंको पृथक् पृथक् पढाहै ॥ १८ ॥

मूल--जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥१९॥

भावार्थ–स्वस्तिक आसनको कहते हैं कि जानु (गोडे) और जंघाओंके बीचमें चरणतल अर्थात् दोनों तरवाओंको लगाकर जो सावधानीपूर्वक बैठना उसे स्वस्तिकआसन कहतेहैं ॥ १९ ॥

---

१ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेंतरायाः ।

मूल–सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥२०॥

भाषार्थ–गोमुख आसनको कहते हैं कि, कटिके वामभागमें दहना गुल्फ टकना और दक्षिणभागमें वामेटकनेको लगाकर जो गोमुखके समान आकार होजाताहै उसे गोमुखआसन कहते हैं ॥ २० ॥

मूल–एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम् ॥
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ–वीरासनको कहते हैं कि, एकचरणको वाम जंघापर और दूसरेको दक्षिण जंघापर रखकर वीरासन होताहै ॥ २१ ॥

मूल–गुदं निरुद्धय गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ॥
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

भाषार्थ–कूर्मासनको कहतेहैं दोनों टकनोंसे गुदाको विपरीत क्रमसे अर्थात् दक्षिणसे वामभाग वामसे दक्षिण भागको रोककर जो सावधानीसे बैठजाय उसे कूर्मासन कहते हैं ॥ २२ ॥

मूल–पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ ॥
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् २३॥

भाषार्थ–अब कुक्कुटासनको कहते हैं कि,पद्मासनको लगाकर अर्थात् जघाओंके ऊपर उत्तान (खडे) दोनों चरणोंको स्थापन करके और जानु (गोडे) और जंघाओंके मध्यभागमें दोनों हाथोंको लगाकर और उन दोनों हाथोंको भूमिमें स्थापन करके आकाशमें स्थित रहै पद्मासनके समान जो यह आसन है सो कुक्कुटासन कहाताहै अर्थात् मुरगेके समान स्थिति करनी ॥ २३ ॥

मूल–कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ॥
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ–अब कूर्मासनको कहतेहैं कि, कुक्कुटासनके बंधनमें स्थित होकर अर्थात् कुक्कुटासनको लगाकर और दोनों भुजाओंसे कन्धरा (ग्रीवा) को भलीप्रकार बाँधकर कूर्म (कच्छप) के समान उत्तान (सीधा) हो जाय तो वह उत्तानकूर्मासन कहाताहै ॥ २४ ॥

मूल--पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि॥
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

भाषार्थ–अब धनुरासनको कहते हैं कि, दोनों पादोंके अंगूठोंको हाथोंसे पकडकर श्रवण (कान) पर्यंत धनुषके समान आकर्षण करै (खींचै) उसको धनुरासन कहते हैं ॥ २५ ॥

मूल–वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम्॥
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदित-
मासनंस्यात् ॥ २६ ॥

भाषार्थ–अब मत्स्येंद्रासनको कहतेहैं कि, वामजंघाके मूलमें दक्षिण पादको रखकर और जानुसे बाहर वाम पादको हाथसे लपेटकर और पकडकर और परिवर्तित अंग होकर अर्थात् वाम भागसे पीठकी तर्फ मुखको करके जिस आसनमें टिकै वह मत्स्येन्द्रनाथका कहा मत्स्येंद्रासन होताहै । इसीप्रकार दक्षिणजंघाके मूलमें वामपादको रखकर और पीठपर गये दक्षिण हाथसे उसको ग्रहण करके और वामजानुसे बाहर हाथसे लपेटे दक्षिणपादको दक्षिणपादकी जानुसे बाहर लपेटे फिर उसको वाम हाथसे ग्रहण करके और दक्षिणभागसे पीठकी तरफ मुखको करके भी हठयोगका अभ्यास करै अर्थात् यह भी एक मत्स्येंद्रासन है ॥२६॥

मूल--मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडलखंडना-
स्त्रम् ॥ अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वंच
ददाति पुंसाम् ॥ २७ ॥

भाषार्थ–अब मत्स्येंद्रासनके फलको कहतेहैं कि,यह मत्स्येंद्रासन जठराग्निका दीपन (अधिक) करताहै क्योंकि यह आसन प्रचंडरोगोंका जो समूह उसके नाशकेलिये अस्त्रके समानहै और कुंडलिनी जो आधार शक्तिहै उसके प्रबोध (जागरण) अर्थात् निद्राके अभावको और तालुके ऊपरके भागमें स्थित जो चंद्र (नित्यझरैहै) उसकी स्थिरताको अर्थात् झरनेके अभावको पुरुषोंको देताहै अर्थात् करताहै ॥ २७ ॥

मूल--प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥ जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥ २८ ॥

भाषार्थ–अब पश्चिमतानासनको कहतेहैं कि, दंडके समानहै रूप जिनका ऐसे और मिलेहै गुल्फ जिनके ऐसे दोनोंचरणोंको भूमिपर फैलाकर और आकुंचित (सुकडी) है तर्जनी जिनकी ऐसी भुजाओंसे दोनों पादोंके दोनों अग्रभागोंको ग्रहण करके अर्थात् अँगूठोंको इसप्रकार पकडकर जैसे जानुओंके अधोभाग भूमिसे ऊपर न उठे और जानुओंके ऊपर रक्खाहै ललाट (मस्तक) भाग जिसने ऐसा होकर जहां पुरुष वसै उस आसनको पश्चिमतान आसन कहतेहैं ॥ २८ ॥

मूल--इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥ उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ॥ २९ ॥

भावार्थ–अब इस आसनके फलको कहतेहैं कि संपूर्ण आसनोंमें मुख्य यह पश्चिमताननामका आसन प्राणरूप पवनको पश्चिमवाही करताहै अर्थात सुषुम्ना नाडीके मार्गसे प्राण बहने लगताहै और जठराग्निको उत्पन्न करताहै अर्थात् बढाताहै और उदरके मध्यमें कृशताको करताहै और पुरुषोंकी अरोगता (रोगका अभाव) करताहै और चकारसे नाडियोंके वलन आदिकी समताको करताहै ॥ २९ ॥

मूल--धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभि-
पार्श्वः ॥ उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मायूरमे
तत्प्रवदंति पीठम् ॥ ३० ॥

भाषार्थ–अब मायूरासनको कहते हैं कि,दोनों हाथोंसे भूमिका अवलं-बन करके अर्थात् फैलाये हुये हाथोंसे भूमिका स्पर्श करके और उन हाथोंका जो कूर्पर (भुजा, कर का संधिभाग) जिसको मणिबंध वा गट्टा कहते हैं उसके ऊपर नाभिके दोनों पार्श्वभागोंको स्थापितकरके वह दंडके समान उठा हुआ उच्चासन होताहै इस आसनको योगीजन मायूर कहते हैं अर्थात मयूरके समान इसमें स्थिति होतीहै ॥ ३० ॥

मूल -हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति
च दोषानासनं श्रीमयूरम् ॥ बहु कदशनभुक्तं
भस्म कुर्यादशेषं जनयति जठराग्निं जारयेत्काल
कूटम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ–अब मयूरासनके गुणोंको कहतेहैं कि,गुल्म और जलोदर आदि और जो प्लीहा तिल्ली आदि सब रोग हैं उसको शीघ्र हरताहै और संपूर्ण जो वातपित्त कफ आलस्य आदि दोषहैं उनका तिरस्कार करताहै और अधिक वा कुत्सित अन्न जो भक्षण करलिया होय तो उस संपूर्णको भस्म करताहै और जठराग्निको बढाताहै और कालकूट (विष) को भी जीर्ण करताहै अर्थात विषके समान अपकार करनेवाला जो अन्नहै उसकोभी पचाताहै ॥ ३१ ॥

मूल--उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ॥
शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–अब शवासन और उसके फलको कहते हैं कि, शव (मृतके समान) भूमिपर पीठको लगाकर उत्तान (सीधा) शयन निद्राके तुल्य

जिसमें हो वह शवासन होताहै-और यह शवासन हठयोगके परिश्रमको हरताहै और चित्तकी विश्रांति (विश्राम) को करताहै अर्थात इसके करनेसे चित्त स्थिर होजाताहै ॥ ३२ ॥

मूल--चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब चार आसनोंकी श्रेष्ठताका वर्णन करते हैं कि,शिवजीने चौरासी आसन कहे हैं और चकारके पढनेसे उनके चौरासी लाख लक्षण कहे हैं सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, जितनी जीवोंकी जाति हैं उतनेही आसन हैं इनके संपूर्ण भेदोंको शिवजी जानतेहैं उनमेंभी एक २ चौरासी लक्ष कहाहै तिससे शिवजीने चौरासी आसनही किये हैं-उनमें श्रेष्ठ जो चौरासी आसन हैं उनमेंसे लेकर श्रेष्ठ जो चार आसन हैं उनको मैं कहताहुं ॥ ३३ ॥

मूल--सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेतिचतुष्टयम् ॥
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-उन चारोंकेही नामोंको दिखातेहैं कि,सिद्धासन-पद्मासन-सिंहासन और भद्रासन ये चार आसन अत्यंत श्रेष्ठ हैं।उन चारोंमें सुखका कर्ता जो सिद्धासन है उसमें सदैव योगी टिके-इससे यह सूचित किया कि, इन चारोंमेंभी सिद्धासन उत्तम है ॥ ३४ ॥

मूल--योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे
न्मेढ्रेपादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं
ह्येतन्मोक्षक पाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ३५॥

---

१ आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः । एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः । चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥

भाषार्थ–अब चारों आसनोंमें उत्तम जो सिद्धासन उसके स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि, गुदा और लिंग इंद्रियका मध्यभाग जो योनिस्थान है उससे वाम चरणके मूल (एडी) को मिलाकर और दक्षिण दूसरे पादको दृढ रीतिसे लिंग इंद्रियके ऊपर रक्खै और हृदयके समीपभागमें हनु (चिबुक वा ठोडी) को भलीप्रकार स्थिर करके अर्थात् हनु और हृदयका चार अंगुलका अंतर रखकर भलीप्रकार विषयोंसे रोकी हैं इंद्रिये जिसने ऐसा स्थाणु (निश्चल) योगी अपनी अचल (एकरस) दृष्टिसे भ्रुकुटीके मध्यभागको देखता रहै । यह मोक्षके कपाट (अवरोध वा रोक) का जो भेदन (नाश) उसका करनेवाला–योगीजनोंने सिद्धासन कहाहै–अर्थात सिद्धयोगी इस आसनसे बैठते हैं ॥ ३५ ॥

मूल–मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥३६॥

भाषार्थ–अब मत्स्येंद्रके संमत सिद्धासनको कहकर अन्य योगियोंके संमत सिद्धासनको कहते हैं कि, मतांतरमें तो यह लिखाहै कि, लिंग इंद्रियके ऊपरके भागमें वामगुल्फको रखकर और तैसेही सव्य (वाम) पादके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर बैसे तो यह भी किसी २ ने सिद्धासन कहा है ॥ ३६ ॥

मूल–एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–इसकोही कोई सिद्धासन कहतेहैं और कोई वज्रासन कहते हैं और कोई मुक्तासन और कोई गुप्तासन कहतेहैं अर्थात् इस सिद्धासनके ही ये भी नाम हैं और आसनके जो भलीप्रकार ज्ञाता हैं वे इन चारों आसनोंमें यह भेद (फरक) कहते हैं कि जिसमें वाम पादकी पार्ष्णिको लिंगके स्थानपर लगाकर और दक्षिण पादकी पार्ष्णि (एडी) को लिंगके ऊपर रखकर स्थित हो वह सिद्धासन काहाताहै और जहां वाम पार्ष्णिको लिंगके स्थानमें और दक्षिण पादकी पार्ष्णिको लिंगके ऊपर लगाकर

स्थिति करै वह वज्रासनभी कहाताहै अर्थात् इन दोमें भेद नहीं है और जहां दक्षिण और वाम पादकी दोनों पार्ष्णियोंके ऊपर नीचे मिलाकर योनिके स्थानमें लगाकर स्थितहो वह मुक्तासन कहाताहै और जहां पूर्वोक्त रीतिसे मिलाई दोनों पार्ष्णियोंको लिंगसे ऊपर रखकर स्थितहो वह गुप्तासन कहाताहै ॥ ३७ ॥

मूल–यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥३८॥

भाषार्थ–अब सात श्लोकोंसे सिद्धासनकी प्रशंसा करते हैं कि, जैसे दश प्रकारके यमोंमें प्रमित भोजन मुख्यहै और नियमोंमें अहिंसा मुख्य है इसीप्रकार संपूर्ण आसनोंमें सिद्धासन सिद्धोंने मुख्य कहाहै और प्रमित भोजन इस वचनसे कहेंगे कि, भली प्रकार स्निग्ध (चिकना) और मधुर आदि जो भोजन वह मिताहार कहाताहै ॥ ३८ ॥

मूल–चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९॥

भाषार्थ–चौरासी जो आसन हैं उनमें सदैव सिद्धासनका अभ्यास करै क्योंकि यह आसन बहत्तर नाडियोंके मलोंका शोधक है ॥ ३९ ॥

मूल–आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ४०

भाषार्थ–आत्माके ध्यानका कर्ता और मिताहारी होकर दशवर्ष पर्यंत सदैव सिद्धासनके अभ्यास करनेसे योगी योगकी सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् अन्ययोगोंके अभ्यासके विनाही केवल सिद्धासनकेही अभ्याससे सिद्धिको प्राप्त होताहै ॥ ४० ॥

मूल–किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥ ४१ ॥

---

१ सुस्निग्धमधुराहारः ।

भाषार्थ–सिद्धासनके सिद्ध होनेपर अन्य बहुतसे आसनोंसे क्या फल है अर्थात कुछ नहीं है और इस सिद्धासनसे सावधान प्राणवायुके केवल कुंभक प्राणायाम बँधनेपर अन्य सब आसन वृथा समझने ॥ ४१ ॥

मूल–उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ॥
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ॥
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–और इस सिद्धासनके प्रतापसेही चंद्रमाकी कलाके समान उन्मनी कला विनापरिश्रम उत्पन्न होजाती है और तिसीप्रकार एक दृढ सिद्धासनके सिद्ध होनेपर मूलबंध उड्डीयानबंध जालंधरबंधरूप तीनों बंध विनाश्रम स्वयंही होजाते हैं अर्थात पार्ष्णिके मार्गसे योनि (लिंग) को भली प्रकार दबाकर गुदाका संकोच करै इत्यादि वचनोंसे[1] जो मूलबंध आदिमें परिश्रम कहा है उसके किये विनाही तीनों बंध सिद्ध होजाते हैं ॥ ४२ ॥

मूल–नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–सिद्धासनके समान अन्य आसन नहीं है और केवल कुंभकके समान कुंभक नहीं है और खेचरी मुद्राके समान मुद्रा नहीं है और नादके समान अन्य ब्रह्ममें लयका हेतु नहीं है ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनम् ।

मूल–वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥४४॥

भाषार्थ–अब पद्मासनको कहते हैं कि, वाम जंघाके ऊपर सीधे द-

[1] पार्ष्णिमार्गेण संपीडच योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।

क्षिण चरणको भलीप्रकार स्थापन करके और तिसीप्रकार सीधे वाम चरणको दक्षिण जंघाके ऊपर भलीप्रकार स्थापन करके और पृष्ठभागसे जो विधि उससे दोनों हाथोंसे दृढ रीति चरणोंके अँगूठोंको ग्रहण (पकड) कर अर्थात् पृष्ठपर किये दक्षिणहाथसे वाम जंघापर स्थित दक्षिण चरणके अँगूठेको ग्रहण करके और पृष्ठपर किये वाम हाथसे दक्षिण जँघापर स्थित वाम चरणके अँगूठेको ग्रहण करके और हृदयके समीप चार अंगुलके अंतर चिबुक (हनु वा ठोडी) रखकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखतारहै अर्थात् ऐसी स्थिति जिसमें हो यह योगीयोंकी संपूर्ण व्याधियोंका विनाशकारक पद्मासन सिद्धोंने कहाहै अर्थात् इस आसनके लगानेसे संपूर्ण व्याधि नष्ट होती है ॥ ४४ ॥

मूल--उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥४५॥

भाषार्थ–अब मत्स्येंद्रनाथके कहे पद्मासनको कहते हैं कि, उत्तान चरणोंको बडे यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके अर्थात् जंघाओंपर लगा है पृष्ठभाग जिनका ऐसे चरणोंको उत्तम यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके और जंघाओंके मध्यमें उत्तान (सीधे) हाथोंको रखकर तात्पर्य यहहै कि जंघाओंपर स्थित जो चरणोंकी दोनों पार्ष्णि उसमें लगा है पृष्ठभाग जिसका ऐसे वामहाथको उत्तान करके और उसके ऊपर दक्षिण पार्ष्णिको उत्तान करके और फिर दृष्टि (नेत्रों) को ॥ ४५ ॥

मूल—नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया ॥
उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–अपनी नासिकाके अग्रभागमें निश्चलरूपसे लगा दे और राजदंतों (दाड) के मूलोंको जिह्वासे ऊपर स्तंभन (थांभना) करके और चिबुकको वक्षस्थलपर रखकर यह जिह्वाका बंधन गुरुके मुखसे जानने योग्य है–और शनैः २ पवनको उठाकर इससे मूल बंध कहा है यह भी

गुरुके मुखसेही जानने योग्यहै हठ रहस्य (सिद्धांत वा तत्व) के ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, जिह्वाके बंधसेही मूलबंध होसक्ता है ॥ ४६ ॥

मूल–इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–इस पूर्वोक्त प्रकारसे आसन लगाकर जहां बैठे वह संपूर्ण व्याधियोंका नाशक योगिजनोंने पद्मासन कहा है और यह दुर्लभ आसन जिस किसी बुद्धिमान मनुष्योंको पृथिवीमें मिलता है अर्थात विरलाही कोई इसको जानता है–अथवा जिस किसी मूर्खको दुर्लभ है और बुद्धिमान्‌को तो भूमिके विषे मिलसकता है ॥ ४७ ॥

मूल–कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्धा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ॥
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः४८॥

भाषार्थ–यह पद्मासन बडे २ योगियोंको संमत है इस बातको स्पष्ट करते हुये ग्रंथकार पद्मासनके विषे अन्य भी कृत्यको कहते हैं कि, दोनों हाथोंको संपुटित करके उत्संग (गोदी) में स्थित करके और दृढ रीतिसे पद्मासनको बाँधकर और चिबुकको दृढ रीतिसे वक्षःस्थलके समीप करके–यहां चार अंगुलका अंतर योगियोंकी संप्रदायसे जानना–अर्थात इस पूर्वोक्त प्रकारसे जालंधर बंधको करके उस २ अपने इष्टदेव वा ब्रह्मका चित्तके विषे वारंवार ध्यान करता हुआ योगी ओं तत् सत यह तीन प्रकारका ब्रह्मनिर्देश (रूप) कहाहै क्योंकि यह भगवान्‌ने गीतामें कहा है अपानवायुको ऊपरको प्रोत्सारित (चढाता) करता और मूल बंधको करके सुषुम्नाके मार्गसे प्राणवायुको ऊपरको चढाता हुआ और पूरित किये अर्थात् पूरक प्राणायामसे अंतर्धारण किये प्राणवायुको नीचै गमन करता हुआ–अर्थात् प्राण और अपानकी एकताको करके मनुष्य शक्ति

१ ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

(आधार शक्ति कुंडलिनी) के प्रभावसे सर्वोत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है– अर्थात् प्राण अपानकी एकताके होनेसे कुंडलिनीका बोध (प्रकाश) होता है कुंडलिनीका बोध होनेपर सुषुम्नाके मार्गसे प्राण ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त होजाता है और उसमें जानेसे चित्तको स्थिरता होजाती है–चित्तकी स्थिरता होनेपर संयमसे आत्माका साक्षात्कार होता है अर्थात् आत्मज्ञान होजाता है । भावार्थ यह है कि, दोनों हाथ संपुटित–और भलीप्रकार दृढ पद्मासन लगाय–और अपने वक्षःस्थलपर चिबुकको लगाकर और चित्तमें वारंवार इष्टदेवका ध्यान करता हुआ और अपान वायुको ऊपरको पहुँचांता और पूरित किये प्राण वायुको नीचेको करता हुआ मनुष्य शक्तिके प्रभावसे उत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

मूल–पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–पद्मासनमें स्थित योगका अभ्यासी नाडीकेद्वारा पूरित अर्थात् पूरकसे अंत (मध्यमें) गत किये वायुको सुषुम्नाके मार्गसे मस्तकपर्यंत पहुँचाकर जो स्थिर करै वह मुक्त है इसमें संशय नहीं है ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनम् ।

मूल–गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ ५० ॥

भाषार्थ–अब सिंहासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणों (अंडकोष) नीचे सीवनी नाडीके दोनों पार्श्वभागोंमें गुल्फोंको लगावे और दक्षिण पार्श्वमें वाम गुल्फको और वाम पार्श्वमें दक्षिणगुल्फको लगावै ॥ ५० ॥

मूल--हस्तौ तु जान्वोःसंस्थाप्य स्वांगुलीःसंप्रसार्यच ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–और जानुओंके ऊपर हाथोंके तलोंको भलीप्रकार लगाकर

और अपने हाथोंकी अंगुलियोंको प्रसारित करके अर्थात फैलाकर–चंचल है जिह्वा जिसमें ऐसे मुखको वा (खोल) कर भलीप्रकार सावधान हुआ मनुष्य अपनी नासिकाके अग्रभागको देखै ॥ ५१ ॥

मूल–सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥
बंधत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–योगियोंमें जो श्रेष्ठ उनका पूजित यह सिंहासन होताहै और संपूर्ण आसनोंमें उत्तम यह आसन मूलबंध आदि तीनों बंधोंके संधान (संनिधान वा प्रकट) को करता है ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनम् ।

मूल--गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–अब भद्रासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणोंके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वभागोंमें इसप्रकार गुल्फोंको रक्खै कि, वामगुल्फको सीवनीके वामपार्श्वमें और दक्षिणगुल्फको दक्षिणपार्श्वमें लगाकर स्थिति करै ॥ ५३ ॥

मूल--पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–और सीवनीके पार्श्वभागोंके समीपमें गये पादोंको भुजाओंसे दृढ़ बांधकर अर्थात् परस्पर मिलीहुई जिनकी अंगुलि हों और जिनका तल हृदयपर लगा हो ऐसे हाथोंसे निश्चल रीतिसे थामकर जिसमें स्थित हो संपूर्ण व्याधियोंका नाशक वह भद्रासन होताहै ॥५४॥

मूल–गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–और सिद्ध जो योगी है वे इसकोही गोरक्षासन कहते हैं अर्थात् पूर्वोक्त गोरक्षनाथने प्रायः इसका अभ्यास किया है इससे इसको गोरक्षासन कहते हैं–आसनोंको कहकर उनके कर्तव्यको कहते हैं कि, इसप्रकार आसनोंके बांधनेमें विगत (नष्ट) है श्रम जिसका ऐसा योगीन्द्र (श्रेष्ठयोगी)–॥ ५५ ॥

मूल–अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–नाडियोंकी शुद्धिका अभिलाषी और नियमित (रुके) प्राणको इडा नामकी नाडीसे पीवै आगे कही हुई यह मुद्राहै आदिमें जिसके ऐसी प्राणवायुकी क्रिया (प्राणायाम) का अभ्यास करै–अब हठाभ्यासके क्रमको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और चित्र (नानाप्रकारका) कुंभक प्राणायाम और मुद्राहै नाम जिसका ऐसा करण ये हट सिद्धिमें प्रकृष्ट (उत्तम) उपकारी है इस श्लोकमें तथाशब्द चशब्दके अर्थमें हैं ॥ ५६ ॥

मूल–अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥
अब्दादूर्ध्वंभवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥५७॥

भाषार्थ–इन पूर्वोक्त आसन आदि तीनोंके करनेके अनंतर नादका अनुसंधान (चिंतन) अर्थात् कानोंको दबाकर जो अनाहत ताडनाके विना ध्वनि सदैव अंतः होती रहतीहै उसका विचार यह संपूर्ण हठयोगमें अभ्यासका क्रम है अर्थात् इस क्रमसे हठयोगका अभ्यास करे अब हठयोगकी सिद्धिकी अवधिको कहतेहैं कि ब्रह्मचारी और प्रमित भोजी त्यागी (दानी वा विषयोंका त्यागी) योगमें परायण (योगका अभ्यासी) मनुष्य एक वर्षके अनंतर सिद्ध होजाताहै इसमें यह विचार नहीं करना कि, होगा वा न होगा अर्थात् निश्चयसे सिद्ध होजाताहै ॥ ५७ ॥

---

१ प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितम् ।

मूल–सुस्निग्धमधुहारश्च चतुर्थांशविवर्जितः ॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥५८॥

भाषार्थ–पूर्व श्लोकमें जो मिताहारी कहाहै उसकेलिये योगियोंके मिताहारको कहतेहैं कि, भलीप्रकार स्निग्ध (चिकना) और मधुर जो आहार वह चतुर्थांशसे रहित जिस भोजनमें शिवजी (जीव वा ईश्वर) के प्रीतिके अर्थ भक्षण किया जाय वह मिताहार कहाताहै सोई इस वचनसे पंडितोंने कहाहै कि, उदरके दोभाग अन्नसे पूर्ण करै (भरै) और एक भागको जलसे पूर्णकरै और चौथे भागको प्राण वायुके चलनेके लिये शेषरक्खे और देव जो महेश्वर वह भोक्ताहै देह नहीं ॥ ५८ ॥

मूल--कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौवीरतैलतिल सर्षपमद्यमत्स्यान् ॥ आजादिमांसदधितक्रकुलत्थ कोलपिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–अब दो श्लोकोंसे योगियोंके अपथ्यको कहतेहैं कि, करेला आदि कटु–और इमली आदि अम्ल (खट्टा) और मिर्च आदि तीक्ष्ण लवण और गुड आदि उष्ण और हरित शाक (पत्तोंका शाक) सौवीर (कांजी) तैल तिल मदिरा मत्स्य इनको अपथ्य कहते हैं और अजा (बकरी) आदिका मांस दही तक्र (मठा) कुलथी कोल (बेर) पिण्याक (खल) हींग लहसन ये सब हैं आद्य (पूर्व) जिनके ऐसे पलांडु (सलजम) गाजर मादक द्रव्य उडद ये सब योगीजनोंने योगियोंके अपथ्य कहे हैं ॥ ५९ ॥

मूल–भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ॥
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम्॥६०॥

---

१ द्वौभागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ।

भाषार्थ—और इस योगीको ये भोजन अहितहै कि, अग्निके संयोगसे पुनः (दुबारा) उष्ण किया जो दाल चावल आदि और रूखा अर्थात घृत आदिसे रहित जिसमें अधिक लवण हो वा जो लवणका भी अवलंबनकारी हो जैसे चाकूवा नामका शाक वा जौंका खार इन दोनों पक्षोंमें इससे उत्तरपक्ष श्रेष्ठहै कि, लवण सर्वथा वर्जितहै सोई दत्तात्रेयने कहा है कि, इसके अनंतर वर्जितोंको और यह योगमें विघ्नकारियोंको कहताहूं कि लवण सरसों अम्ल उग्र (सौहांजना) तीक्ष्ण रूखा अत्यन्त भोजन ये भोजन और अत्यन्त निद्रा और अत्यंत भाषण ये त्याज्य हैं स्कंदपुराणमें भी लिखा है कि, कटु अम्ल लवण इनको त्यागदे और सदैव दूधका भोजन करै । अम्लसे युक्त भी पदार्थ त्यागने योग्यहै तो साक्षात अम्ल क्यों न होगा। इसमें तीसरा पद कोई यह पढते हैं कि, पललं वा तिलपिंडं उसका यह अर्थ है कि, मांस और खलको वर्जदे और कुत्सित अन्न (यावनाल कोदूआदि) और शास्त्रोक्तसे अन्न शाक और उत्कट (विदाहि) जिससे उदरमें जलन हो ऐसे मीर्च आदि ये सब अति लवण आदि वर्जितहैं । और वर्ज्यं इसके स्थानमें दुष्टं यह पाठ होय तो वह दुष्ट पूति (दुर्गंधि) और पर्युषित (बासी) आदिभी अहितहैं ॥ ६० ॥

मूल—वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ६१ ॥

तथाहि गोरक्षवचनम् ॥

"वर्जयेद्दुर्जनप्रांतं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।

प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा" ॥

भाषार्थ—इसप्रकार योगियोंको जो सदैव कालमें वर्जित हैं उनको कहकर योगके समयमें जो वर्जित हैं उनको कहते हैं कि, वह्नि स्त्री मार्ग इनको सेवा अर्थात् अग्निकी सेवा स्त्रीसंग तीर्थयात्रागमन इनका वर्जन

---

१ अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणिच । लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकम् ॥ अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषणम् ।

२ त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत ।

अभ्यासके समयमें करै और अभ्यासके सिद्ध होनेपर कदाचितही वर्जेदे शीतकालमें अग्निका सेवन गृहस्थको ऋतुके समय स्वभार्यागमन और तीर्थ यात्रा आदिमें मार्ग गमन निषिद्ध नहीं हैं यह आदि पदसे सूचित किया। उसमें प्रमाणरूप गोरक्षका वचन कहते हैं कि, दुर्जन के समीपका वास और कहीं यह पाठहै कि, दुर्जनके संग प्रीति और अग्नि स्त्री मार्ग इनका सेवन और प्रातःकालस्नान और उपवास आदि यहां आदि पदसे फलाहार और कायाके क्लेशकी विधिको अर्थात् अनेकबार सूर्यनमस्कार आदिको और अधिक भारका लेजाना आदिको वर्जेदे इस श्लोकमें तथापद समुच्चयका बोधक है ॥ ६१ ॥

मूल--गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखंडनवनीतसितामधूनि ॥ शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्गादि दिव्यमुदकं च यमींद्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–अब योगियोंके पथ्यका वर्णन करते हैं कि,गेहूं शालि(चावल) जौं और षाष्टिक (सांठी) और पवित्र अन्न (श्यामाक नीवार आदि) दूध घी खांड नौनी घी सिता (मिसरी) मधुर (सहत) सूँठ पटोल फल (परवल) आदि, पांच शाक मूंग आदि, आदि पदसे आढकी और दिव्य जल अर्थात् निर्दोष जल ये योगियोंमें जो इंद्रहैं उनके पथ्य हैं वैद्यकमें भी ये पांच शाक पथ्य कहे[1] हैं कि संपूर्ण शाक अचाक्षुष्यहैं अर्थात नेत्रोंको हितकारी नहीं हैं किंतु ये पांच शाकही चाक्षुष्य हैं कि, जीवन्ती वास्तु (वथुवा) मूल्याक्षि मेघनाद और पुनर्नवा ॥ ६२ ॥

मूल--पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥ मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥६३॥

भाषार्थ–अब योगीके भोजनोंका नियम कहते हैं कि ओदन आदि

---

१ सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपंचकम् ॥ जीवन्ती वास्तु मूल्याक्षि मेघनाद पुनर्नवा ।

देह पुष्टिकारक और शर्करा आदि मधुर और घृतसहित भोजन और दुग्ध घृत आदि गव्य यदि गौके घृत आदि न मिले तो भैंसके ग्रहण करने और धातुपोषक (लड्डू पूआआदि) इनमें जो अपने मनको वाञ्छित हो उस योग्य अर्थात् शास्त्रविहित भोजनको योगी करै और सत्तु भुने अन्न आदिसे निर्वाह न करै ॥ ६३ ॥

मूल--युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥६४॥

भावार्थ– अब इस बातका वर्णन करते हैं कि, योगके अभ्यासीको अवस्था विशेष और आरोग्य आदिकी अपेक्षा नहीं है कि, युवा हो वृद्ध वा अतिवृद्ध हो रोगी हो वा दुर्बल हो अभ्याससे आसन कुंभक आदिके करनेसे समाधि और उसके फलको प्राप्त होता है। अभ्यासके स्वरूपको कहते हैं कि, संपूर्ण जो योगके अंग उनमें आलस्य न करै यहां योगके साधन योगांगोंमें इसप्रकार योग शब्दका प्रयोग है जैसे जीवनके साधन कृषि वाणिज्य आदिमें जीवनशब्दका प्रयोग होता है ॥ ६४ ॥

मूल--क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्॥
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

भावार्थ–अब अभ्याससे सिद्धि होती है इस बातको दृढ करनेके लिये दो २ श्लोकोंको कहते हैं कि, योगांगोंके करनेमें जो युक्त उस पुरुषको योगसिद्धि होती है और जो योगांगोंको नहीं करता उसको योगीकी सिद्धि नहीं होती कदाचित कहो कि, योगशास्त्रके पढनेसे सिद्धि होजायगी सो ठीक नहीं क्योंकि योगशास्त्रके केवल पढनेसे योगसिद्धि नहीं होती ॥ ६५ ॥

मूल–न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–गेरूसे रँगे वस्त्र आदिका धारण सिद्धिका कारण नहीं और योगशास्त्रकी कथा भी सिद्धिका कारण नहीं यह सत्य है इसमें संशय नहीं ॥ ६६ ॥

मूल–पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥६७॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्माराम-योगीन्द्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनविधिकथनंनाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

भाषार्थ–अब योगांगोंके करनेकी अवधिको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और अनेक प्रकारके कुंभक आदि प्राणायाम महामुद्रा आदि दिव्य करण ये संपूर्ण हठयोगके अभ्यासमें राजयोगके फलपर्यंत करने योग्य हैं अर्थात् ये राजयोगमें प्रकृष्ट उपकारक हैं क्योंकि प्रकृष्ट जो उपकारक वेही करण होता है ॥ ६७ ॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितहठ-योगप्रदीपिकायां लाँखग्रामनिवासि पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायांआसनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

श्रीः ।

हठयोगप्रदीपिका ।

भाषाटीकासमेता ।



द्वितीयोपदेशः २.

मूल–अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥

भाषार्थ–आसनोंके उपदेशको कहकर- प्राणायामोंके कहनेका प्रारंभ करते हैं इस श्लोकमें अथ शब्द मंगलके लिये है वा अनंतरका वाचकहै इसके अनंतर आसनोंकी दृढता होनेपर जीती हैं इंद्रियें जिसने हित (पथ्य) और पूर्वोक्त प्रमित है भोजन जिसका ऐसा योगी गुरुके उपदेश किये मार्गसे आगे वर्णनकिये प्राणायामोंका भलीप्रकार अभ्यास करै–अर्थात् उत्साह–साहस–धीरता आदिसे प्राणायामोंके करनेमें मनको लगावै ॥ १ ॥

मूल–चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥२॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि, प्रयोजनके विना मंद भी प्रवृत्त नहीं होता–इस महान् पुरुषोंके वचनसे[1] प्रयोजनके अभावसे प्राणायामोंमें–योगीकी प्रवृत्ति नहीं होगी–इसलिये प्राणायामोंका प्रयोजन कहते हैं कि, प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होता है–और प्राण-वायुके निश्चल होनेपर चित्त भी निश्चल होता है–और प्राणवायु और चित्त इन दोनोंके निश्चल होनेपर योगी स्थाणुरूपको प्राप्त होता है अर्थात्

---

१ प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोपि न प्रवर्तते ।

स्थिर और दीर्घ कालतक जीता है तिससे योगी प्राणवायुका निरोध करै अर्थात् कुंभकप्राणायामोंको करै ॥ २ ॥

मूल–यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्य निष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ–जबतक शरीरमें प्राणवायु स्थित है तबतकही जगत् जीवनको कहता है क्योंकि देह और प्राणका जो संयोग है वही जीवन कहाता है और उस प्राणवायुका जो देहसे वियोग (निकसना) उसकोही मरण कहते हैं तिससे जीवनके लिये प्राणवायुके निरोध (रोकना) रूप प्राणायामको करै ॥ ३ ॥

मूल–मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥४॥

भाषार्थ–अब मलकी शुद्धि हठयोगसिद्धिका जनक है इस बातको निषेध मुखसे वर्णन करते हैं कि, जबतक नाडी मलसे व्याकुल (व्याप्त) हैं तबतक प्राण मध्यग नहीं होसकता अर्थात् सुषुम्ना नाडीके मार्गसे नहीं चल सकता किंतु मलशुद्धि होनेपरही मध्यग होसकता है तो मलसेयुक्त नाडियोंके विद्यमान रहते उन्मनीभाव कैसे होसकता है और मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होसक्ती है अर्थात् नहीं होसक्ती। सुषुम्नानाडीके प्राणसंचार होनेको उन्मनीभाव कहते हैं ॥ ४ ॥

मूल–शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥

भाषार्थ–और मलोंसे व्याकुल संपूर्ण नाडियोंका समूह जब शुद्धिको प्राप्त होता है उसी कालमें योगी प्राणवायुके संग्रहण (रोकना) में समर्थ होता है, इस श्लोकमें यह बात वर्णनकी कि, अन्वयसेही मलशुद्धि–हठयोग सिद्धिकी हेतु है अर्थात् इन पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक कारणोंसे योगी मलशुद्धिकेलिये प्राणायामोंका सदैव अभ्यास करै ॥ ५ ॥

मूल–प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ॥
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥६॥

भाषार्थ–अब मलशुद्धिके हेतु प्राणायामको कहते हैं जिसकारण योगी मलशुद्धिके विना कारणोंके संग्रहणमें समर्थ नहीं होता तिससे सात्त्विक बुद्धिसे प्राणायामको नित्य करे अर्थात् ईश्वरका प्रणिधान उत्साह साहस आदि यत्नोंसे तिरस्कारको प्राप्त भये हैं विक्षेप आलस्य आदि रजोगुणी धर्म जिसके ऐसी सात्विक अर्थात प्रकाशमान और प्रसन्न बुद्धिसे सदैव प्राणायाममें उसप्रकार तत्पर रहै जिसप्रकारसे सुषुम्ना नाडीमें स्थित संपूर्ण मलशुद्धिको प्राप्त होय अर्थात् नष्ट होजाय ॥ ६ ॥

मूल–बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ॥
धारयित्वा यथाशक्तिभूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ–अब मलके शोधक प्राणायामके प्रकारको कहते हैं कि, बांधा हैं पद्मासन जिसमें ऐसा योगी प्राणवायुको चंद्रनाडी (इडा) से पूर्ण करै अर्थात् चढावे फिर उसको अपनी शक्तिके अनुसार धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायाम करके फिर सूर्यकी नाडी (पिंगला) से प्राणवायु-का रेचन करै अर्थात् छोडदे बाहरकी वायुका जो प्रयत्न विशेषसे ग्रहण उसे पूरक कहते हैं और जालंधर आदि बंधपूर्वक जो प्राणोंका निरोध उसे कुंभक कहते हैं और कुंभित प्राणवायुका जो प्रयत्न विशेषसे गमन उसे रेचक कहते हैं ये रेचक और पूरकके लक्षण उन्हीं रेचक पूरकोंके हैं जो प्राणायामोंके अंग हैं इससे इस वचनमें गौण रेचक पूरक कहे हैं उनमें अव्याप्ति नहीं क्योंकि वे लक्ष्यही नहीं कि लोहकारकी भस्त्राके समान रेचक और पूरकको संभ्रमसे करै ॥ ७ ॥

मूल–प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

---

१ भास्त्रवत् लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।

भाषार्थ–और सूर्यकी नाडी पिंगलासे प्राणका आकर्षण (खींचना) करके शनैः शनैः उदरको पूरणकरै फिर विधिसे कुंभक (धारण) करके चंद्रमाकी इडा नामकी नाडीसे रेचन करै अर्थात् प्राणवायुको छोडदे॥ ८॥

मूल--येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अब उक्त प्राणायाममें विशेष विधिको कहते हैं कि, जिस चंद्रमा वा सूर्यकी नाडीसे प्राणवायुका त्याग (रेचन) करै उसी नाडीसे पान (पूरन) करके अत्यंतरोधन (रोकना) से अर्थात् स्वेद और कम्पके पर्यंत धारण करै। फिर जिससे पूरक कियाहो उससे अन्य नाडीसे शनैः शनैः रेचन करै वेगसे नहीं. क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानि होती है अर्थात् जिस नाडीसे पूरक किया हो उससे रेचक न करै और जिससे रेचक कियाहो उसीसे पूरकको तो करले ॥ ९ ॥

मूल–प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदातन्वतां शुद्धा
नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥१०॥

भाषार्थ–पूर्वोक्त आठ श्लोकोंसे वर्णन किये तात्पर्यको एकत्र करके अनुवाद करते हुए ग्रन्थकार प्राणायामके अवान्तर फलको कहते हैं, यदि योगी इडासे अर्थात् वामनाडीसे प्राणका पान (पूरन) करै तो नियमित कुंभित उस प्राणको फिर दूसरी पिंगळा नाडीसे रेचन करै और यदि पिंगलासे प्राणको पीवै अर्थात् दक्षिण नाडीसे वायु पूरण करै तो उस प्राणवायुको बांधकर अर्थात् कुंभित करके इडारूप वामनाडीसे प्राणवायुका रेचन करै । इस पूर्वोक्त सूर्य और चंद्रमाकी विधिसे अर्थात् चंद्रमासे पूर्ण और कुंभक करके सूर्यसे रेचन करै और सूर्यसे पूरण और

कुंभक करके चंद्रमासे रेचन करै । इसपूर्वोक्त विधिसे सदैव अभ्यास करते हुए योगीजनोंके नाडियोंके गण तीनमासके अनंतर शुद्ध होते हैं अर्थात् निर्मल होजाते हैं ॥ १० ॥

मूल–प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ॥
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥

भाषार्थ–अब प्राणायामके अभ्यास काल और उसकी अवधिको कहते हैं–कि, प्रातःकाल अर्थात् अरुणोदयसे लेकर–सूर्योदयसे तीन घडी दिनचढे तक और मध्याह्नमें अर्थात् पांच भाग किये दिनके मध्य भागमें और सायंकाल अर्थात् सूर्यास्तसे पूर्व और सूर्यास्तके अनंतर तीन घडीरूप संध्याके समयमें और अर्द्धरात्रमें अर्थात् रात्रिके मध्यभागके दो मुहूर्तोंमें शनैः शनैः इन पूर्वोक्त चारों कालोंमें चारवार अशीति(८०) प्राणायाम करै यदि अर्द्धरात्रमें करनेको असमर्थ होय तो तीन कालमेंही अस्सी २ प्राणायाम करे, चारवार करै तो(३२०)तीनसौ वीस प्राणायाम होतेहैं–तीनवार करैतो (२४०) दोसौचालीस होते हैं ॥ ११ ॥

मूल–कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ॥
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायु निबंधयेत् ॥१२॥

भाषार्थ–अब कनिष्ठ मध्यम उत्तम रूप तीन प्रकारके प्राणायामोंमें क्रमसे व्यापक जो विशेष उसका वर्णन करते हैं–कि कनिष्ठ प्राणायाममें स्वेद होता है अर्थात प्राणायाम करते पसीना आजाय तो वह प्राणायाम कनिष्ठ (निकृष्ट) जानना और मध्यम प्राणायाममें कम्प होता है अर्थात् देहमें कम्प हो जाय तो वह प्राणायाम मध्यम होताहै–और उत्तम प्राणायाम करनेसे योगी ब्रह्मरंध्ररूप उत्तम स्थानको प्राप्त होता है–अर्थात् ब्रह्मरंध्रमें वायु पँहुचजाय तो उत्तम प्राणायाम जानना तिससे प्राणवायुका निरंतर बंधन करै अर्थात् रोकै–कनिष्ठ आदि प्राणायामोंका लक्षण

लिंगपुराणमें कहाहै कि प्राणायामका प्रमाण द्वादश १२ मात्राका कहाहै. एकबार है प्राणवायुका उद्घात (उठाना) जिसमें ऐसा द्वादशमात्राका प्राणायाम नीचहोताहै और जिसमें दोवार उद्घातहो वह चौवीस मात्राका प्राणायाम मध्यम होताहै और जिसमें तीनवार उद्घात होय वह छत्तीस ३६ मात्राका प्राणायाम मुख्य होताहै और तीनोंमें क्रमसे प्रस्वेद कम्पन और उत्थान होतेहैं और प्राणायामोंमें आनंद निद्रा और चित्तका आंदोलन रोमांच ध्वनिका ज्ञान अंगका मोटन और कम्पन होते हैं और जब योगी श्रम स्वेद भाषण संवित् (ज्ञान) मूर्च्छा इनको जीतले तब वह शोभन प्राणायाम उत्तम कहा है।गोरक्षने भी कहाहै कि, अधमप्राणायाम द्वादश, मध्यममें चौवीस, उत्तममें३६ छत्तीस मात्रा द्विजोत्तमोंने कही हैं उद्घातका लक्षण तो यह कहा है कि, ऊपरको चढतेहुए प्राणसे जब अपानवायु पीडित होता है और ऊपरको गया प्राण लौटता है यह उद्घातका लक्षण है. मात्राकी संज्ञा याज्ञवल्क्यने यह कहीहै कि, अंगुष्ठ और अंगुलीका तीनवार मोक्ष (बजाना वा त्याग) और तीनवार जानुकामार्जन अर्थात गोडेपर हाथफेरना और तीनताल इनको बुद्धिमान् मनुष्यमात्रा कहतेहैं स्कंदपुराणमें लिखाहै कि, एक श्वासकी जो मात्रा उसे प्राणायाम कहतेहैं अर्थात शयन करते हुए मनुष्यका श्वास जितने कालसे आवै वा जाय उतनाकाल प्राणायामकी मात्रा कहाता है आधे श्वाससहित द्वादश श्वासके कालको प्राणायामका काल कहते हैं छःश्वासका एक पल होता है इससे आधेश्वाससहित दो पलका जो काल वही प्राणायामका काल सिद्ध हुआ साढे बारह मात्राहै प्रमाण जिसका वही प्राणायाम उत्तम प्राणायाम कहाता है. कदाचित कोई शंका करै कि,जिस पूर्वोक्तलिंगपुराणके वचनमें द्वादशमात्राका अधम प्राणायाम कहा है उसका विरोध होयगा सो ठीक नहीं क्योंकि जानुको न शीघ्र न विलम्बसे प्रदक्षिणा करके एक पुटकी

---

१ प्राणेनोत्सर्पमानेन अपानः पीड्यते यदा। गत्वाचोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घात लक्षणम्। २ अंगुष्ठांगुलिमोक्षंत्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनं। तालत्रयमपि प्राज्ञाः मात्रासंज्ञां प्रचक्षते। ३ एकश्वासमयीमात्रा प्राणायामे निगद्यते।

बजावे इतनेमें जितना काल लगे उतने कालको मात्रा कहते हैं अंगुष्ठ और अंगुलिका मोक्ष जानुका मार्जन और चुटकी बजाना जितने कालमें होय उसे मात्रा कहते हैं अंगुष्ठ जो हैं सो मात्राका बोधकहै इन स्कंदपुराण और दत्तात्रेयके वचनोंसे एक छोटिका (शिखा) युक्त जो काल वह मात्रा प्रतीत होता है और याज्ञवल्क्य आदिके वचनोंमें तीन छोटिका युक्त काल को मात्रा कहाहै इससे त्रिगुणित को त्रिगुणित अधम को उत्तमता वहां भी कहीहै इससे कुछविरोध नहीं संपूर्ण योगके साधनोंमें प्राणायाम मुख्य है क्योंकि प्राणायामकी सिद्धिमें प्रत्याहार आदि सिद्ध होते हैं और प्राणायामकी असिद्धिमें प्रत्याहार सिद्ध नहीं होते सिद्धान्त तो यहहै कि प्राणायामही प्रत्याहार शब्दोंसे कहा जाताहै सोई योगचिंतामणिमें कहाहै कि अभ्यासके क्रमसे बढता हुआ प्राणायामही प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधि शब्दसे कहा जाता है सोई स्कंदपुराणमें कहाहै कि द्वादशप्राणायामोंका प्रत्याहार और द्वादशप्रत्याहारोंकी धारणा और ईश्वरके संगमके लिये द्वादश धारणाओंका एकध्यान होताहै और द्वादशध्यानोंकी समाधि इसलिये कहाती है कि समाधिमें अनंत स्वप्रकाशक ज्योति (ब्रह्म) दीखताहै जिसके दीखनेसे कर्मकाण्ड और जन्म मरण निवृत्त होजाते हैं और पांच नाडियोंकी धारणा और छः नाडी (घडी) योंका ध्यान होताहै और बारहदिन प्राणायाम करनेसे समाधि होतीहै इस वचनसे गोरक्षआदिनेभी ऐसेही कहाहै यहां यह व्यवस्थाहै कि जिसमें कुछ कम ४२ विपलहों यह कनिष्ठ

---

१ जानुंप्रदक्षिणीकुर्यान्नद्रुतन्नविलम्बितं । प्रदद्याच्छोटिकांयावत्तावन्मात्रेतिगीयते । अंगुष्ठांगुलिमोक्षंचजानोश्चपरिमार्जनं । प्रदद्याच्छोटिकांयावत्तावन्मात्रेतिगीयते । अंगुष्ठेमात्रासंख्यायतेतदा । २ प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्द्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यते । ३ प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहारद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता । भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणं । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकं । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकाण्डंयातायातं निवर्त्तते । ४ धारणापंचनाडीभिर्ध्यानंस्यात्षाष्टिनाडिकं । दिन द्वादशकेनस्यात्समाधिःप्राणसंयमात् ।

प्राणायामका कालहै और यही एक छोटिकाके कालको जबमात्रा कहते हैं तब द्वादश पलरूप होताहै और कुछ कम चौराशी ८४ विपलका मध्यम प्राणायामका कालहै और यही पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे२४चौवीसमात्राका होताहै और१२५सवासौ विपलका उत्तम प्राणायामका काल होताहै और पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे छत्तीस ३६ मात्राका होताहै और जब तीन छोटिकाके कालको मात्रा मानते हैं तबतो यहभी द्वादश मात्राका होताहै जब बंधपूर्वक सवासौ विपल पर्यंत प्राणायामकी स्थिरता होजाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रमें चला जाताहै ब्रह्मरंध्रमें गया प्राण जब२५पल पर्यंत टिकजाय तब प्रत्याहार होताहै और जब पांचघटिका पर्यंत टिकजाय तब धारणा होती है और जब ६० घडी पर्यंत टिकजाय तब ध्यान होताहै और जब प्राण १२ बारह दिन तक ब्रह्मरंध्रमें टिकजाय तब समाधि होती है इससे संपूर्ण रमणीय है अर्थात् पूर्वोक्त कोई दोष नहीं भावार्थ यह है कि कनिष्ठ प्राणायाममें स्वेद मध्यममें कंप होताहै और उत्तम प्राणायाममें प्राण ब्रह्मरंध्रमें पहुँचताहै इससे योगी प्राणायामका बंधन करै ॥ १२ ॥

मूल–जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

भाषार्थ–अब प्राणायामके अभ्याससे स्वेद होनेपर विशेष कहते हैं कि प्राणायामके परिश्रमसे उत्पन्न हुआ जो जल उससे अपने गात्रोंका मर्दन करै उससे शरीरकी दृढता और लघुता होती है अर्थात जडता नहीं रहती ॥ १३ ॥

मूल–अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥

भाषार्थ–अब पहिले और पिछले अभ्यासोंमें दुग्ध आदिके नियमोंका वर्णन करतेहैं कि, पहिले अभ्यासकालमें दुग्ध और घी सहित भोजन

श्रेष्ठ कहा है फिर अभ्यासके दृढ होनेपर अर्थात् कुंभकके सिद्ध होनेपर पूर्वोक्त नियममें आग्रह न करै ॥ १४ ॥

मूल-यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ-सिंह आदिके समान शनैः २ प्राणको वशमें शीघ्र न करै इस बातका वर्णन करतेहैं जैसे सिंह गज (वनका हाथी) व्याघ्र (शार्दूल) ये शनैः २ ही वशमें होसकते हैं शीघ्र नहीं. तिसी प्रकार अभ्यास किया प्राण शनैः २ ही वशमें होताहै शीघ्रता करनेसे सिंह आदिके समान साधकको अपने समान नष्ट करदेता है ॥ १५ ॥

मूल-प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब युक्त और अयुक्त प्राणायामोंके फल कहते हैं आहार आदि और जालंधर आदि बंध इनकी युक्तियोंसहित जो प्राणायाम उसे युक्त कहते हैं उस युक्त प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंका क्षय होजाताहै और अयुक्त प्राणायामके अभ्यासं अर्थात् पूर्वोक्त युक्तिरहित प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंकी उत्पत्ति होतीहै ॥ १६ ॥

मूल-हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

भाषार्थ-अब अयुक्त प्राणायाम करनेसे जो रोग होते हैं उनका वर्णन करते हैं कि हिक्का (हुचकी) श्वास कास और शिर नेत्र कर्ण इनकी पीडा और ज्वर आदि नानाप्रकारके रोग प्राणवायुके कोपसे होते हैं ॥ १७ ॥

मूल-युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-जिससे वायुके कोपसे अनेकरोग होते हैं इससे जो योगीको

कर्तव्यहै उसका वर्णन करतेहैं कि युक्तियुक्त प्राणवायुको त्यागै अर्थात् रेचनके समयमें शनैः २ ही प्राणका रेचन करै शीघ्र न करे और युक्त २ ही वायुको पूर्णकरै अर्थात् न अल्प न अधिक और जालंधर बंध आदि युक्त वायुको युक्त २ ही बांधे अर्थात् कुंभक करै इस प्रकार योगी अभ्यास करै तो हठयोगकी सिद्धिको प्राप्त होताहै ॥ १८ ॥

मूल-यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् १९

भाषार्थ–युक्त प्राणायामके अभ्यासीको जो सिद्धि होती है उसक लक्षण दोश्लोकोंसे कहते हैं कि जिस कालमें नाडियोंकी शुद्धि होती है उस समय बाह्य और भीतरके ये चिह्न होते हैं कि कायाकी कृशता और कांति (तेज) उस समय निश्चयसे होते हैं ॥ १९ ॥

मूल–यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ २०॥

भाषार्थ–यथेष्ट (अनेकबार) वायुका जो धारणहै वह जठराग्निको भलीप्रकार दीपनहै अर्थात् जठराग्निके दीपनसे यथेष्ट वायुके धारणक अनुमान करना और नादकी जो अभिव्यक्ति अर्थात् अन्तर्ध्वानिकी प्रतीति और रोगोंका अभाव यह नाडियोंका शोधनसे अर्थात् मलरहित करनेसे होताहै ॥ २० ॥

मूल–मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥

भाषार्थ–मेदा आदि जिस पुरुषके अधिकहों उसके लिये अन्य उपायका वर्णन करते है कि, जिस पुरुषके मेदा और श्लेष्मा अधिक होय वह पुरुष प्राणायामके अभ्याससे पहिले छःकर्मोंको करै और मेदा और श्लेष्मा की अधिकतासे जो रहितहो वह उन छः ६ कर्मोंके दोषोंकी समानता होनेसे न करै ॥ २१ ॥

मूल–धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२॥

भाषार्थ–छः कर्मोंको वर्णन करतेहैं कि, धौती १ बस्ति २ नेति ३ त्राटक ४ नौलिक ५ और कपालभाति ६ बुद्धिमानोंने ये छः कर्म योगमार्गमें कहे हैं ॥ २२ ॥

मूल–कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

भाषार्थ–ये छः कर्म गुप्त करने योग्यहैं और देहको शुद्ध करतेहैं और विचित्रगुणके संधानको करतेहैं इससे योगियोंमें श्रेष्ठ इनकी प्रशंसा करते हैं यदि ये गुप्त न रक्खे जाँय तो अन्यभी इनको करसकेंगे तो योगियोंकी पूज्यता न रहैगी–इससे योगियोंको सर्वोत्तम बनानाही षट्कर्मका फल है–क्योंकि मेदा श्लेष्माका नाश तो प्राणायामोंसेभी हो-सकता है सोई इस वचनमें लिखा है कि प्राणायामके अभ्यासमें तत्पर मनुष्य षट्कर्मके योगको प्राप्त होताहै–पूर्व और उत्तर ग्रंथकीभी इसी प्रकार संगति होसकती है ॥ २३ ॥

तत्र धौतिः ॥

मूल–चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ २४ ॥

भाषार्थ–अब छःमें धौति कर्मको कहते हैं कि चार अंगुल–जिसका विस्तार हो और १५ पंद्रह हाथ जो आयत (दीर्घ) हो–अर्थात् चार अंगुल चौडा और पंद्रह हाथ लंबा जो वस्त्र उसको उष्ण जलसे सींच कर–गुरुके उपदेश किये मार्गसे शनैः २ ग्रसै अर्थात् प्रथम दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, इसप्रकार एक २

हाथकी वृद्धिसे उसके ग्रसनेका अभ्यास करै और वह वस्त्र भी सूक्ष्म लेना उचित है ॥ २४ ॥

मूल–पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत् ॥
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥ २५ ॥

भाषार्थ–उस वस्त्रके प्रान्त (छोर) को अपनी डाढोंमें भलीप्रकार दाबकर नौली कर्मसे उदरमें टिके उस वस्त्रको भलीप्रकार चलाकर उस वस्त्रका शनैः २ प्रत्याहरण करै अर्थात् निकाले–यह सिद्धोंने धौतीकर्म कहा है–अब धौतीकर्मके फलको कहते हैं–कास–श्वास प्लीहा-कुष्ठ-और वीस प्रकारके कफरोग ॥ २५ ॥

मूल–धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥
नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥२६॥

भाषार्थ–धौतीकर्मके प्रभावसे नष्ट होते हैं–इसमें संशय नहीं अर्थात यह निश्चित है। अब बस्तीकर्मको कहते हैं कि, नाभिप्रमाणका जो नदी आदिके जल उसमें स्थित गुदाके मध्यमें ऐसे बाँसके नालको रक्खै जिसका छिद्र कनिष्ठिका अंगुलिके प्रवेश योग्य हो और छः अंगुल उस बाँसके नालको लेकर चार अंगुल उसको गुदामें प्रवेश करै और दो अंगुल बाहिर रक्खे और उत्कट आसन रक्खे अर्थात दो पार्ष्णियोंसे ऊपर–अपने स्फिच (चूतड) पादोंकी अङ्गुलियोंसे बैठनेको उत्कट आसन कहते हैं– उक्त आसनसे बैठाहुआ मनुष्य आधाराकुंचन करै अर्थात जैसे वंशनालके द्वारा वंशनालमें जल प्रविष्ट हो तैसे आकुंचन करै-भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौली कर्मसे चलाकर त्याग दे–इस उदरके क्षालन (धौना) को बस्ती कर्म कहते हैं–ये धौति बस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्वही करने और इनके करनेके अन्तर भोजनमें विलंबभी न करना–कोई तो पहिले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षण (खींचना) का

अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नाल प्रवेशके विनाही बस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं–उस प्रकार बस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्टहुआ संपूर्ण जल बाहर नहीं आसक्ता और उसके न आनेसे धातु-क्षय आदि नानारोग होते हैं–इससे उसप्रकार बस्तिकर्म न करना क्योंकि अपनी गुदामें रक्खा है नाल जिसने ऐसे स्वात्माराम अन्यथा क्यों कहते ? ॥ २६ ॥

मूल–आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥
गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७ ॥

भाषार्थ–अब बस्तिकर्मके गुणोंको दो श्लोकोंसे वर्णन करते हैं–कि बस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म (गुम) प्लीहा-उदर-(जलोदर) और वात-पित्त-कफ-इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए संपूर्ण रोग नष्ट होते हैं २७॥

मूल–धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तिम् ॥ अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥ २८ ॥

भाषार्थ–अभ्यास कियाहुआ यह बस्तिकर्म करनेवाले पुरुषके धातु अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रिय. श्रोत्रत्वक्जिह्वा–घ्राण–चक्षुः ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन बुद्धि चित्त अहंकार रूप अंतःकरण इनकी प्रसन्नताको करताहै अर्थात इनके परिताप विक्षेप शोक मोह गौरव आवरण दैन्य आदि रजोगुण तमोगुण धर्मोंको दूर करके सुखका प्रकाश लाघव आदि सात्विक धर्मोंको प्रकट करताहै और देहकी कांति और जठराग्निकी दीप्तिको देताहै–और संपूर्ण– जो वात–पित्त–कफ आदि दोष हैं उनकी वृद्धिको नष्ट करताहै–और इन दोषोंके अपचय (न्यूनता) कोभी नष्ट करताहै–अर्थात् दोषोंकी साम्यरूप आरोग्यताको करताहै ॥ २८ ॥

अथ नतिः ।

मूल–सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ॥
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ–अब नेतिकर्मका वर्णन करते हैं कि, वितस्ति (बिलायद) परमित--भलीप्रकार स्निग्ध (चिकने) सूत्रको नासिकाके नालमें प्रविष्ट करके मुखमेंको निकाल दे यह सिद्धोंने नेति कही है--यहां जितने सूत्रसे नेतिकर्म होसके उतना सूत्र लेना कुछ वितस्तिका नियम नहीं--और वह सूत्र नव दश वा पंद्रह तारका लेना--उस नेति करनेका प्रकार तो इसप्रकार है कि, सूत्रके प्रान्तभागको नासाके नालमें प्रविष्ट करके और दूसरी नासाके पुटको अंगुलिसे रोककर--पूरकप्राणायाम करे--फिर मुखसे वायुका रेचन करै--वारंवार इसप्रकार करते हुए मनुष्यके मुखमें सूत्रका प्रान्त आजाता है–मुखमें आये सूत्रके प्रान्त (छोर) को और नासिकाके बाहर टिके सूत्रप्रान्तको शनैः २ चलावे इसको नेतिकर्म कहते हैं–और चकारके पढनेसे एक नासिकाके नालमें प्रवेश करके दूसरी नासिकाके नालमें प्रवेश करले यह समझना. उसका प्रकार यह है कि, एक नासिकाके नालमें सूत्रके प्रांतको प्रवेश करके इतर नासिकाके पुटको अंगुलिसे दाबकर पूरक प्राणायाम करै फिर इतर नासिकाके नालसे प्राणका रेचन करे–वारंवार इसप्रकार करते हुए मनुष्यकी दूसरी नासिकाके नालमें सूत्रका प्रांत आजाताहै–उसका पूर्वके समानही चालन करै परन्तु यह प्रकार बहुतवार करनेवाले पुरुषको कदाचितही होता है–अणिमा आदि गुणोंसे युक्त सिद्धोंने यह नेति कही है–सोई इस वचनसे कहा है कि, जिनको अणिमा आदि आठ प्रकारका ऐश्वर्य होवे सज्जनोंने सिद्ध कहे हैं ॥ २९ ॥

मूल–कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहंति च ॥ ३० ॥

१ अवाप्ताष्टगुणैश्वर्यात्सिद्धाःसद्भिर्निरूपिताः ।

भाषार्थ–अब नेतिके गुणोंको कहते हैं कि, यह नेतिक्रिया कपालको शुद्ध करती है और चकारसे नासिका आदिके मलको दूर करती है और दिव्य दृष्टिको देती है और जत्रुके अर्थात् स्कंधकी संधिके ऊपरले भागके रोगोंका जो समूह उसको शीघ्र नष्ट करती है, क्योंकि इस अमरकोशमें स्कंध भुजा शिर इनकी संधिको जत्रु कहाहै ॥ ३० ॥

अथ त्राटकम् ।

मूल–निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥
अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ–अब त्राटकका वर्णन करते हैं कि समाहित अर्थात् एकाग्र-चित्त हुवा मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघुपदार्थको तब-तक देखै जबतक अश्रुपात न हो तो यह मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने त्राटक कर्म कहा है ॥ ३१ ॥

मूल–मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–अब त्राटकके गुण कहते हैं कि, यह त्राटक कर्म नेत्रके रोगोंका नाशक है और तंद्रा आलस्य आदिका कपाट है अर्थात् कपाटके समान तंद्रा आदिका अंतर्द्धान (तिरस्कार) करताहै तमोगुणि जो चित्तकी वृत्ति उसे तंद्रा कहते हैं यह त्राटककर्म इसप्रकार यत्नसे गुप्त करने योग्य है जैसे सुवर्णकी पेटी जगत्में गुप्त करने योग्य होती है ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः ।

मूल–अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ॥
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–अब नौलिका वर्णन करते हैं कि, नवाये हैं कांधे जिसने

---

१ स्कंधोभुजाशिरोंसोस्त्रीसंधिस्तस्यैव जत्रुणी ।

ऐसा मनुष्य अत्यंत है वेग जिसका ऐसे आवर्त (जलभ्रमर) के समान वेगसे अपने तुंद (उदर) को सव्य और अपसव्य (अर्थात) दक्षिणवामभागोंसे भ्रमावे सिद्धोंने यह नौलिकर्म कहाहै ॥ ३३ ॥

मूल–मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ॥ अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिरियं च नौलिः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब नौलिके गुणोंको कहते हैं कि, मंदाग्निका भलीप्रकार दीपन और अन्न आदिका पाचन और सर्वदा आनंद इनको यह नौलि करती है और अशेष (समस्त) जो वात आदि दोष और रोग इनका शोषण (नाश) करतीहै और यह नौलि धौति आदि जो हठयोगकी क्रिया हैं उन सबकी नौलि (उत्तम) रूप है ॥ ३४ ॥

मूल–भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥ कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–अब कपालभाति और उसके गुणोंको कहते हैं कि, लोहकारकी भस्त्राके समान संभ्रमसे अर्थात् एकवार अत्यंत शीघ्रतासे रेचक पूरक प्राणायामको करना वह योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कपालभाति विख्यात है ॥ ३५ ॥

मूल–षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥ प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–अब इन छः पूर्वोक्त कर्मोंको प्राणायामकी उपकारकताका वर्णन करते हैं कि, धौति आदि छः कर्मोंसे दूर भये हैं स्थूलता बीस प्रकारके कफदोष और मल पित्त आदि जिसके ऐसा पुरुष षट्कर्म करनेके अनंतर प्रणायाम करे तो अनायाससे (विनापरिश्रम) प्राणायाम सिद्ध होताहै यदि षट्कर्मोंको न करके प्राणायामोंको करै तो अधिक अधिक परिश्रम होताहै इससे षट्कर्मके अनंतरही प्राणायाम करना उचित है॥ ३६ ॥

मूल–प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति ॥
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥३७॥

भाषार्थ–अब मतभेदसे छः कर्मके अनुपयोगको कहते हैं कि, प्राणायामके करनेसेही संपूर्ण मल शुष्क होते हैं और स्थौल्य कफ आदिकी निवृत्तिभी प्राणायामोंसेही होसकती है इससे किन्ही किन्ही आचार्योंको प्राणाया-से अन्य जो धौति आदि कर्म हैं वे सम्मत नहीं हैं । वायुपुराणोंमें[1] आचार्यका लक्षण यह कहाहै कि, जो शास्त्रके अर्थका संग्रह करै और शास्त्रोक्तको स्वयं करै और अन्योंसे करावै वह आचार्य कहाता है ॥३७॥

मूल–उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले॥
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब गजकरणीका वर्णन करते हैं कि, अपान वायुको ऊपरको उठाकर अर्थात् कंठके नालमें पहुँचाकर उदरमें प्राप्त हुये अन्न जल आदि पदार्थको जिससे योगीजन उद्वमन करते हैं इसका क्रमसे जो अभ्यास तिससे वशीभूत (स्वाधीन) है नाडियोंका समूह जिसके ऐसी उसक्रियाका नाम हठयोगके ज्ञाता आचार्योंने गजकरणी कहा है और कहीं क्रमपरिचय नाडीमार्ग यहभी पाठहै । उसका यह अर्थ है कि, क्रमसे किये अभ्याससे वशीभूत है शंखिनी नाडीका कंठपर्यंत मार्ग जिसमें ऐसी गजकरणी कहातीहै ॥ ३८ ॥

मूल–ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः॥
अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–अब प्राणायामके अवश्य अभ्यास और सर्वोत्तमोंके कर्तव्य और फलका वर्णन करते हैं कि, ब्रह्मा आदि देवताभी अंतकके भयसे

---

१ आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारेस्थापयेदपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्य स्तेन चोच्यते ।

अर्थात् काल जीतनेके लिये प्राणवायुके अभ्यासमें तत्पर हुये अर्थात् रेचक कुंभक पूरक भेदोंसे भिन्न २ जो प्राणायाम उनके करनेमें सावधान रहै तिससे प्राणायामके अभ्यासको अवश्य करै ॥ ३९ ॥

मूल–यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

भाषार्थ–यावत्कालपर्यंत प्राणवायु शरीरमें बद्ध है अर्थात् श्वास और उच्छ्वास क्रियासे शून्य है और इतने अंतःकरण निराकुल अर्थात् विक्षेपरहित वा सावधान है और इतने भ्रुकुटियोंके मध्यमें अंतःकरणकी वृत्ति है तावत्कालपर्यंत कालसे भय किसप्रकार नहीं होसकताहै अर्थात् योगी स्वाधीन होजाताहै सोई आगे कहेंगे कि, उस योगीको कोई खा नहीं सकता न कोई कर्म बांध सकता न कोई उसे साधसकता जो योगी[1] समाधिसे युक्त है ॥ ४० ॥

मूल–विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–विधिपूर्वक अर्थात् आसन जालंधरबंध आदि पूर्वक किये हुए प्राणायामोंसे नाडियोंके समूहके भलीप्रकार शोधन हुयेपर प्राणवायु इडा और पिंगलाके मध्यमें वर्तमान सुषुम्ना नाडीके मुखको भलीप्रकार भेदन करके सुषुम्नाके मुखमें सुखसे प्रविष्ट होजाताहै ॥ ४१ ॥

मूल–मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥४२॥

भाषार्थ–जब प्राणवायुका सुषुम्नाके मध्यमें संचार होनेपर मनकी स्थिरता होजातीहै अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी वृत्तियोंका प्रवाह होजाताहै वह जो मनका भलीप्रकार स्थिर होजानाहै उसकोही

---

१ खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥

मनोन्मनी अवस्था कहतेहैं यहाँ मनोन्मनी शब्द उन्मनीका पर्याय है यही बात राजयोग और समाधियोगसे आगे कहेंगे ॥ ४२ ॥

मूल–तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वंति कुंभकान् ॥
विचित्रकुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात॥४३॥

भाषार्थ–विचित्र कुंभकप्राणायामोंमें प्रवृत्ति होनेके लिये उनके मुख्य फल और अवान्तरफलको कहते हैं–कुंभक प्राणायामकी विधिके ज्ञाता योगीजन उन्मनी अवस्थाकी सिद्धिके लिये अनेक प्रकारके अर्थात् सूर्यभेदन आदिसे भिन्न २ प्राणायामोंको करते हैं, क्योंकि विचित्र कुंभकप्राणायामोंके अभ्याससे विचित्रही सिद्धिको प्राप्त होजाता है अर्थात् जन्म, औषधी, मंत्र, तप इनसे उत्पन्न हुई विलक्षण सिद्धि कुंभक प्राणायामोंसे होतीहै । सोई भागवतमें कहाहै कि, उत्तम जन्म औषधी तप और मंत्र इनसे जितनी सिद्धि होतीहै उन सबको योगी योगसे प्राप्त होताहै और अन्य कर्मोंसे योगकी गति प्राप्त नहीं होती और उस गतिकी प्राप्ति प्रत्याहार आदिकी परम्परासे समझनी ॥ ४३ ॥

अथ कुंभकभेदाः ।

मूल–सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा ॥
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः॥४४॥

भाषार्थ--अब आठ कुंभक प्राणायामोंको नाम लेलेकर दिखातेहैं कि, सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी,सीतली, भस्त्रिका,भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी, ये आठप्रकारके कुंभकप्राणायाम जानने ॥ ४४ ॥

मूल–पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ॥
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डिनायकाः ॥ ४५ ॥

---

१ जन्मौषधितपोमंत्रैर्यावत्य इह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वाः नान्यैर्योगगतिं व्रजेत ।

भाषार्थ--अब हठसिद्धिकेविषे परमहंसोंकी उस सर्वकुंभक साधारण युक्तिको तीन श्लोकोंसे कहतेहैं जो अन्यसे सिद्ध न होसकै कि, पूरकप्राणायामके अंतमें जालंधरहै नाम जिसका वह बंध करना अर्थात् कंठके आकुंचनको करके चिबुकको हृदयमें स्थापनरूप जालंधरबंधसे प्राणवायुका बंधन करै और तुशब्दसे कुंभककी आदिमें भी जालंधर बंध करै और कुंभकके अंतमें अर्थात् कुंभकके किंचित् शेष रहनेपर और रेचकप्राणायामकी आदिमें उड्डीयान् बंधको करै प्रयत्नविशेषसे नाभिप्रदेशका पीठसे जो आकर्षण उसे उड्डीयानबंध कहतेहैं ॥ ४५ ॥

मूल–अधस्तत्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥४६॥

भाषार्थ--कंठका संकोचन करनेपर अर्थात् जालंधर बंध किये पीछे शीघ्रही नीचेके प्रदेशसे आकुंचन होनेसे अर्थात् आकुंचनसे मूलबंध होनेसे हुआ जो मध्यमें पश्चिमतान अर्थात् पृष्ठसे नाभिप्रदेशमें प्राणका आकर्षण रूप उड्डीयान बंधसे प्राण ब्रह्मनादीगत होजाता है–सुषुम्ना नाडीमें पहुँच जाताहै.यहां यह रहस्य अर्थात् गोप्य वस्तु है कि, यदि गुरुमुखसे जिह्वाबंध भलीप्रकार जानलिया होय तो जिह्वाबंधके करनेके अनंतरही जालंधर बंधसे प्राणायाम सिद्ध होताहै अर्थात् वायुके प्रकोपनसेही धातुओंकी प्रसन्नता देहमें कृशता और मुखकी प्रसन्नता आदि संपूर्ण लक्षण होजाताहै इससे मूलबंध उड्डीयान बंध करनेका कुछ उपयोग नहीं और जिह्वाबंध न जाना होय तो इस श्लोकमें उक्त रीतिसे प्राणायाम करने और ये तीनों बंध गुरुमुखसे जानने योग्य है, क्योंकि भलीप्रकार न जाना हुआ मूलबंध नानारोगोंको पैदा करताहै सोई दिखाते हैं कि, यदि मूलबंध कियेपर धातुका क्षय विष्टंभ मंदाग्नि नादकी मंदता और गुटिकाके समूहकेसा है आकार जिसका ऐसा बकरीके समान पुरीष (मल) होय तो यह जानना कि, मूलबंध भलीप्रकार नहीं हुआ और यदि धातुओंकी पुष्टि भलीप्रकार मलशुद्धि और अग्निकी दीपन और भलीप्रकार नादकी

प्रकटता होय तो यह जानना कि, मूलबंध भलीप्रकार हुआहै. भावार्थ यहहै कि, कण्ठके संकोच कियेपर नीचेके प्रदेशसे प्राणके आकुंचनसे पश्चिमतान करनेपर नाभिप्रदेशमें पृष्ठसे प्राणके आकर्षणसे प्राण सुषुम्नामें पहुँच जाताहै ॥ ४६ ॥

मूल–अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ॥
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७॥

भाषार्थ–अपानवायुको ऊर्द्ध (ऊपर) को उठाकर आधाराकुंचनसे प्राणवायुको जो कंठके अधोभागमें स्थापन करै वह योगी जरासे विमुक्त होताहै और षोडश वर्षकाहै देह जिसका ऐसा होताहै. यद्यपि पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंका अंतमें एकही अर्थ होताहै तथापि (पूरकान्ते) इस प्रथम श्लोकसे बंधोंका समय कहाहै और (अधस्तात्कुंचनेन) इस दूसरे श्लोकसे बंधोंका स्वरूप कहा (अपानमूर्द्धमुत्थाप्य) इस तीसरे श्लोकसे बंधोंका फल कहाहै यह विशेष जानना और जालंधर बंध और मूलबंध करनेपर नाभिके भागमें आकर्षण नामका बंध जो उड्डीयान बंधहै वह स्वयंही होजाताहै इससे इस श्लोकमें नहीं कहा,सोई ज्ञानेश्वरने गीतामें छठे अध्यायकी व्याख्यामें कहाहै मूलबंध जालंधरकिये पीछे आकर्षण नामकाबंध स्वयंही होजाताहै ॥ ४७॥

अथ सूर्यभेदनम् ।

मूल–आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ॥
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥४८॥

भाषार्थ–अब सूर्यभेदन आदि आठ कुंभकोंके वर्णन करनेके अभिलाषी आचार्य सबसे प्रथम जो सूर्यभेदन उसका वर्णन करते हैं और हम कुछ योगाभ्यासका क्रम यहांपर लिखते हैं कि योगियोंकी योगसिद्धिके लिये योगाभ्यासको कहते हैं उषस् अर्थात प्रातःकालमें उठकर और शिरपर

१ मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते नाभेरधोभागे आकर्षणाख्योबंधःस्वयमेव जायते ।

अपने गुरुका और हृदयमें अपने इष्टदेवका वर्णन करके दंतधावन और भस्मधारणकरै शुद्धदेश और रमणीय मठमें कोमल आसन बिछाकर उसपर बैठकर और ईश्वर और गुरुका मनसे स्मरण करके देश और कालका कथन करके अर्थात विधिपूर्वक संकल्प करके कि, अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरकी प्रसन्नतापूर्वक समाधि और उसके फलकी सिद्धिके लिये आसनपूर्वक प्राणायामोंको करताहूं और आसनकी सिद्धिके लिये अनंत जो नागेश देवहैं उनको प्रणाम करै कि,मणियोंसे शोभायमान सहस्रों फणोंपर धारण कियाहै विश्वमंडल जिसने ऐसे अनंत नागराजको नमस्कारहै। फिर आसनोंका अभ्यासकरै और परिश्रम होय तो शवासन करै और उसका अंतमें अभ्यास करै और श्रम न होय तो शवासनका अभ्यास न करै और विपरीतहै नाम जिसका ऐसी करणीका कुंभकसे पूर्व अभ्यास करै जालंधरकी प्रसन्नता (सिद्धि) केलिये कुंभकसे पूर्व आचमन करके कर्मका अंग जो प्राण संयम उसको करै। कूर्म पुराणमें शिवके वचनानुसार योगींद्रोंको नमस्कार करके कूर्मपुराणमें शिवका वाक्य यह है कि, शिष्योंसहित योगींद्र और गणेश गुरु और मुझ शिवजीको नमस्कार करके भलीप्रकार सावधान हुआ योगी योगाभ्यासकरै और अभ्यासके समय कुंभकसे बंधपूर्वक सिद्ध पीठ (आसन) बांधकर पहिलेदिन दश प्राणायाम करै। फिर दिन दिनमें (प्रतिदिन) पांच २ की वृद्धिसे प्राणायामकरै इस प्रकार अस्सी प्राणायामोंको भलीप्रकार सावधान मनुष्य करैं। प्रथम योगींद्र चंद्र और सूर्यका अभ्यास करै और बुद्धिमान मनुष्योंने यह अनुलोम विलोमरूपसे दोप्रकारका कहाहै और एकाग्र बुद्धि होकर बंध पूर्वक सूर्य भेदनका अभ्यास करके फिर उज्जायीको करै फिर सीत्कारी और शीतलीको करै फिर भस्त्रिकाका अभ्यास करके अन्य प्राणायामको करै वा नकरै और प्राणोंको बांधकर गुरुमुखसे कहे क्रमके अनुसार मुद्राओंका भलीप्रकार अभ्यासकरै फिर पद्मासनको बांधकर नादका अनुचिंतन (स्मरण) करै और आदरपूर्वक इश्वरार्पण बुद्धिसे संपूर्ण अभ्यासको करै और अभ्याससे उठकर उष्ण जलसे स्नानकरै और संक्षेपसे किये नित्यके कर्मको स्नान करके बुद्धिमान् मनुष्य

समाप्त करै और मध्याह्नमें भी तिसीप्रकार अभ्यास करनेके अनंतर कुछ विश्राम करके भोजन करै। योगियोंको पथ्य भोजन करावे अपथ्य कदाचित् न करावे। इलायची वा लौंग भोजनके अंतमें भक्षण करै और कोई आचार्य कपूर और सुंदर तांबूलके भोजनको कहते हैं और प्राणायामके अभ्यासी योगियोंको चूनेसे रहित तांबूल श्रेष्ठ होताहै केचित्पदके पढनेसे यह चिंतामणिका वचन उत्तम नहीं है क्योंकि चंद्र और सूर्य शीत उष्णके हेतु हैं भोजनके अनंतर मोक्षशास्त्रको देखै (विचारै) और जब तीन घटी दिन शेष रहै तब फिर अभ्यास करै और अभ्यासके अनंतर बुद्धिमान् मनुष्य सायंसंध्याको करै फिर योगी अर्द्धरात्रके समय पूर्वके समान हठयोगका अभ्यास करै और सायंकाल और अर्द्धरात्रके समयमें विपरीत करणीका अभ्यास न करै, क्योंकि भोजनके अनंतर विपरीतकरणी श्रेष्ठ नहीं कहीहै। अब प्रासंगिकको समाप्त करके श्लोकार्थको कहते हैं कि, सुख दायी आसनपर योगी पूर्वोक्त अर्थात् शुद्ध देशमें न अत्यंत ऊंचा और न अत्यंत नीचा और जिसपर क्रमसे वस्त्र मृगचर्म बिछेहों ऐसे आसनको बांधकर जिसमें ग्रीवा शरीर शिर ये समान रहैं इस श्रुतिके अनुसार ऐसे आसनको बांधकर अर्थात् स्वस्तिक वीर सिद्ध पद्म कोईसे आसनसे बैठकर फिर दक्षिण नाडी (पिंगला) से देहसे बाहर वर्तमान जो पवन उसको शनैः२ खींचकर अर्थात् पिंगला नाडीसे पूरकप्राणायामको करके ॥ ४८॥

मूल—आ केशादा नखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥४९॥

भाषार्थ—और नखाग्रसे लेकर केशोंपर्यंत जबतक निरोध होय अर्थात् संपूर्ण शरीरमें पवन रुकजाय तावत्पर्यंत कुंभकप्राणायाम करै। कदाचित् कोई शंका करै कि, हठसे रोका यह प्राण रोमकूपोंके द्वारा निकसजायगा देह कटजायगा वा कुष्ठ आदि रोग होजायँगे तिससे इसको यत्नसे प्रतीतिके द्वारा इसप्रकार रखना चाहिये जैसे वनके हस्तीको वशमें रखते हैं कि, वनका हाथी वा सिंह क्रमसे मृदु होजाताहै और स्वामी

की आज्ञाका अवलंघन नहीं करता और शास्त्रोक्त अपने स्वामीकी आज्ञाको करताहै तिसीप्रकार हृदयमें स्थित यह प्राण भी क्रमसेही योगियोंको ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सेवा करनेसे प्राण विश्वासको प्राप्त होजाताहै । इस वाक्यके विरुद्ध आपका कथन है इससे कैसे कहतेहो कि, यत्नसे कुंभकको करै यह किसीकी शंका ठीक नहीं क्योंकि हठसे रोकाहुआ प्राण इस वाक्य-का इस बुद्धिसे आरंभहै कि, बलसे शीघ्रही मैं प्राणका जय करूंगा इससे उसके लियेही यह वचनहै कि, जो बहुत अभ्यास करनेमें असमर्थ है इसीसे क्रमसे वनके हस्तीके समान यह दृष्टान्त भी ठीक लगसक्ताहै इसीसे सूर्य और चंद्रमा नाडीके अभ्याससे धारण करके (रोककर) यथाशक्ति धारण करै यह भी पूर्वोक्त संगत होताहै तिससे अत्यंत प्रयत्नसे कुंभकप्राणायाम करना क्योंकि जैसे जैसे प्रयत्नसे कुंभक किया जाताहै तैसा तैसाही उसमें अधिक गुण होता है और जैसा जैसा शिथिल होताहै तैसा तैसाही अल्पगुण होताहै और इसमें योगियोंका अनुभव भी प्रमाण है पूरकप्राणा-याम तो शनैः वा वेगसे करना क्योंकि वेगसे किये भी पूरकमें दोष नहीं– और रेचक तो शनैः करना क्योंकि वेगसे रेचक करनेमें बलकी हानि होती है तिससे शनैः २ ही रेचक करै वेगसे न करै–इत्यादि अनेक ग्रंथकारोंकी युक्तिसे पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं है–फिर प्राणके निरोध पर्यंत कुंभ-कके अनंतर सव्य नाडीसे अर्थात् वामभागमें स्थित–इडा-नाडीके द्वारा प्राणवायुका शनैः २ रेचन करै इस श्लोकमें पुनः जो शनैः पद पडा है वह अवधारणके लिये है सोई इस वचनमें कहाहै कि, विस्मय विषाद दीनता और अवधारण (निश्चय) इनमें एक शब्दका दोवार निश्चय किया जाता है । भावार्थ यहहै कि नखके अग्रभागसे लेकर

---

१ हठान्निरुद्धः प्राणोयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि॥ ततः प्रत्यायितव्योसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात ॥ करोति शास्त्रनिर्देशान्नच तत्परिलंघयेत । तथा प्राणो हृदिस्थोयं योगिनां क्रमयोगतः ॥ गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रंभमुपगच्छति ॥

केशोंपर्यंतकी पवनको रोककर कुंभक करै फिर वामभागमें स्थित इडा नाडीसे शनैः २ पवनका रेचन करै ॥ ४९ ॥

मूल–कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥
पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

भावार्थ–यह सूर्यभेदन नामका कुंभक मस्तकको शुद्ध करताहै और अस्सी प्रकारके वातदोषोंको हरताहै– और उदरमें पैदाहुए जो कृमि उनको नष्ट करताहै-इससे यह उत्तम सूर्यभेदन वारंवार करना–अर्थात् सूर्यनाडी से पूरक और कुंभक करके चंद्रनाडीसे रेचन करै–इस रीतिसे किया हुआ यह सूर्यभेदन योगीजनोंने उत्तम कहाहै ॥ ५० ॥

अथोज्जायी ।

मूल–मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ ५१ ॥

भावार्थ–अब डेढ श्लोकसे उज्जायी नामके कुंभकको कहते हैं–मुखका संयमन (दाबना करके और इडा और पिंगला नाडीसे शनैः शनैः इस प्रकार पवनका आकर्षण करै जिसप्रकार वह पवन कण्ठसे हृदय पर्यंत शब्द करती हुई लगै ॥ ५१ ॥

मूल–पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥

भावार्थ–फिर सूर्यभेदनके समान प्राणका कुंभक करै फिर कुंभक करनेके अनंतर इडा वामनाडीसे प्राणका रेचन करै अर्थात् मुखके द्वारा वाहिर देशमें पवनको निकासे अब डेढ श्लोकसे उज्जायीके गुणोंको कहते हैं कि कण्ठमें जो श्लेष्म-कफके दोषहैं उनको हरता है–और जठराग्निको बढ़ाताहै–अर्थात् दीपन करताहै ॥ ५२ ॥

मूल–नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम्॥५३॥

भाषार्थ–नाडी जलोदर और संपूर्ण देहमें वर्तमान जो धातु इनमें जितने दोषहैं उनको नष्ट करताहै–और यह उज्जायि नामका कुंभक, गमन करते हुए वा बैठे हुए–मनुष्यको भी करने योग्यहै अर्थात् इसमें पूर्वोक्त बंधों की आवश्यकता नहीं ॥ ५३ ॥

अथ सीत्कारी ।

मूल–सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–अब सीत्कारी कुंभकका वर्णन करते हैं–तिसीप्रकार सीतका (सीत्कार) को करै अर्थात् दोनों ओष्ठोंके मध्यमें लगीहुई–जिह्वासे–सीत्कार करताहुआ मुखसे प्राणायाम करै–और घ्राणसेही अर्थात् नासिका-के दोनों पुटोंसे रेचक करै–यहां एव शब्दसे यह सूचन कियाहै कि, मुखसे रेचन न करै और मुखसे वायुका निकासना तो अभ्यासके अनंतर भी न करै क्योंकि उससे बलकी हानि होतीहै–यहां विजृंभिका शब्दसे रेचक प्राणायामका ग्रहण है–अब सीत्कारीकी प्रशंसाको कहते हैं कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके अभ्याससे अर्थात वारंवार करनेसे रूप योगसे योगी ऐसा होजाता है मानो दूसरा कामदेव है अर्थात रूप और शोभामें कामदेवके समान होजाता है ॥ ५४ ॥

मूल--योगिनीचक्रसामान्यसृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–योगिनियोंका जो समूह उसके भलीप्रकार सेवने योग्य होताहै और सृष्टिकी उत्पत्ति और लय (संसार) इनका कर्ता होताहै और सीत्कारी प्राणायामके करनेवालेको क्षुधा तृषा और निद्रा आलस्य

अर्थात देह और चित्तके गौरवसे कार्यमें प्रवृत्तिका अभाव उनमें देहका गौरव कफ आदिसे और चित्तका गौरव तमोगुणसे जानना नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

मूल–भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–और देहका बल बढताहै इस पूर्वोक्त विधिके करनेसे योगीजनोंमें इंद्र और भूमिके मंडलमें संपूर्ण उपद्रवोंसे रहित होताहै यह सीत्कारी कुंभक प्राणायामका फल सत्यहै अर्थात इसमें संदेह नहीं है ॥ ५६ ॥

अथ शीतली ।

मूल–जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–अब शीतली कुंभकका वर्णन करते हैं कि, ओष्ठोंसे बाहिर निकसी हुई उस जिह्वासे जो पक्षीकी चंचुके समान हो वायुका आकर्षण करके अर्थात शनैः २ पूरक प्राणायामको करके और फिर सूर्यभेदनके समान कुंभकके साधन विधिको करके शोभन है बुद्धि जिसकी ऐसा योगी नासिकाके छिद्रोंमेंसे शनैः २ पवनका रेचन करै अर्थात् रेचक प्राणायामको करै ॥ ५७ ॥

मूल–गुल्मप्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥
विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–अब शीतलीके गुणोंको कहते हैं कि, शीतली है नाम जिसका ऐसा यह कुंभक प्राणायाम गुल्म प्लीहा आदि रोग ज्वर पित्त क्षुधा तृषा और सर्प आदिका विष इन सबको नष्ट करताहै अर्थात इसके कर्ताका देह स्वाभाविक शीतल रहताहै ॥ ५८ ॥

अथ भस्त्रिका।

मूल–ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–अब पद्मासन और भस्त्रिका नामसे कुंभक प्राणायामको कहते हैं कि, जंघाओंके ऊपर दोनों पादोंके शुभ (सीधे) तलोंको भली-प्रकार स्थापन करके जो टिकना वह पद्मासन सब पापोंका नाशक होताहै यहां उपरि यह अव्यय उत्तानका वाची है इसीसे कारककी मनोरमामें कहाहै कि, 'उपर्युपरि बुद्धीनां' इसके व्याख्यानमें उत्तान बुद्धियोंके ऊपर २ ईश्वरकी बुद्धि चरती है ॥ ५९ ॥

मूल–सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥

भाषार्थ–भलीप्रकार ऐसे पद्मासनको बांधकर जिसमें ग्रीवा और उदर समान (बराबर) हों बुद्धिमान् मनुष्य मुखका संयम (बोचना) करके घ्राणके द्वारा अर्थात् नासिकाके एक छिद्रमेंसे प्राणवायुका रेचन करै ॥ ६० ॥

मूल–यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–उस प्राणका इसप्रकार रेचन करै जैसे वह प्राण शब्द सहित हृदय और कंठमें कपालपर्यंत लगै–फिर वेगसे हृदयके कमलपर्यंत वायुको वारंवार पूर्ण करै अर्थात् पूरक प्राणायाम करै ॥ ६१ ॥

मूल--पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–फिर तिसीप्रकार प्राणवायुका वेगसे रेचन करै और तिसी-प्रकार पूर्ण करै अर्थात् पूरक करै और वेभी वारंवार इसप्रकार वेगसे पूरक रेचक करने जैसे लोहकार भस्त्राको चलाताहै ॥ ६२ ॥

मूल–तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–तैसेही अपने शरीरमें स्थित पवनको बुद्धिसे चलावै और रेचक और पूरककी अवधि यह है कि, जब रेचक पूरकके करनेसे शरीरमें श्रम हो तब सूर्यनाडीसे पूर्ण करै ॥ ६३ ॥

मूल–यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ॥
धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥६४॥

भाषार्थ–जिसप्रकार पवनसे शीघ्रही उदर पूर्ण हो (भर) जाय है तिसीप्रकार सूर्यनाडीसे पूर्ण करै । अब पूरकके अनंतर जो कर्तव्य है उसका वर्णन करते हैं कि–मध्यमा और तर्जनी अंगुलियोंके विना अर्थात् अंगुष्ठ अनामिका कनिष्ठिका इन तीनोंसे वाम नासिकाके पुटको दृढतासे रोककर प्राणवायुको ग्रहण करै अर्थात् कुंभक प्राणायामसे धारण करै६४॥

मूल–विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–विधिपूर्वक कुंभकको करके इडानामको चंद्रनाडीसे वायुका रेचन करै इस भस्त्रा कुंभककी यह परिपाटी (क्रम) है कि वाम नासिकाके पुटको दक्षिणभुजाकी अनामिका कनिष्ठिकाओंसे रोककर दक्षिण नासिकाके पुटसे भस्त्राके समान वेगपूर्वक रेचक पूरक करने–फिर श्रम होनेपर उसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अँगूठेसे दक्षिण नासिकाके पुटको रोककर यथाशक्ति कुंभक प्राणयामसे वायुको धारण करै फिर इडासे रेचन करै फिर दक्षिण नासिकाके पुटको अँगूठेसे रोककर वामनासा पुटसे भस्त्राके समान शीघ्र २ रेचक पूरक करने–श्रम होनेपर तिसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अनामिका कनिष्ठिकासे नासिकाके वामपुटको रोककर यथाशक्ति कुंभकको कर पिंगला नाडीसे प्राणका रेचन करै एक तो यह रीति है–और नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोक-

कर नासिकाके दक्षिण पुटसे पूरक करके शीघ्र अंगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुटसे रेचन करै इसप्रकार शत १०० वार करके श्रम होनेपर उससे ही पूरण करै–और बंधपूर्वक करके इडानाडीसे रेचन करै–फिर नासिकाके दक्षिणपुटको अँगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुटसे पूरक करके शीघ्रही नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोककर पिंगलासे भस्त्राके समान रेचन करै–वारंवार इसप्रकार करके रेचक पूरककी आवृत्तिमें जब श्रम होजाय अर्थात् थकावट होजाय तब वामनासिका पुटसे पूरक करके अनामिका और कनिष्ठिकासे धारण करनेके अनंतर कुंभक प्राणयामको करके पिंगलासे रेचन करै यह दूसरी रीतिहै–अब भस्त्रिका कुंभकके गुणोंको कहते हैं कि वात पित्त श्लेष्मा (कफ) इनको हरतीहै और शरीरकी अग्नि (जठराग्नि) को बढातीहै ॥ ६५ ॥

मूल–कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ॥
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–और शीघ्रही सोती हुई कुंडलीका बोधकहै और पवित्र करताहै और सुखका दाताहै और हित है यद्यपि संपूर्ण कुंभक सबकालमें हित होतेहैं तथापि सूर्यभेदन और उज्जायी ये दोनों उष्ण हैं इससे शीतके समय हितकारी है और शीत्कारी शीतली ये दोनों शीतल हैं इससे उष्णकालमें हितहैं–और भस्त्रा कुंभक न शीतलहै न उष्णहै इससे सब कालमें हितहै । यद्यपि संपूर्ण कुंभक सब रोगोंको हरतेहैं तथापि सूर्यभेदन प्रायसे वातको हरताहै और उज्जायी प्रायसे कफको हरता है और शीत्कारी शीतली ये दोनों प्रायसे पित्तको हरतेहैं और भस्त्रानामका कुंभक त्रिदोष (संनिपात) को हरताहै यह और ब्रह्मलोक प्राप्त करनेवाली जो सुषुम्ना नामकी ब्रह्मनाडीहै सोई इसे श्रुतिमें लिखा है

१ शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवंति ।

कि, एकसौ एक १०१ हृदयकी नाडी हैं उनमेंसे एक नाडी मूर्द्धा और (मस्तक) के सन्मुख गयी है उस नाडीके द्वारा जो उर्द्ध लोकमें जाता है वह मोक्षको प्राप्त होताहै और अन्य सब नाडी जहां तहां क्रमको छोडकर गयीहैं उस ब्रह्मनाडीके मुख (अग्रभाग में भलीप्रकार स्थित जो कफ आदि अर्गल अर्थात् प्राणकी गतिका प्रतिबंधक उसका नाशकहै ६६

मूल–सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदकम् ॥
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥६७॥

भाषार्थ–भलीप्रकार (दृढ) जो गात्र (सुषुम्ना) नाडीके मध्यमें भलीप्रकार उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथि अर्थात् ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथिरूप जो तीन गाँठ हैं उनका विशेषकर भेदजनकहै इसीसे यह भस्त्रा नामका कुंभक प्राणायाम विशेषकर करने योग्यहै और सूर्य भेदन आदि यथासंभव (जब तब) करने योग्य हैं अर्थात् आवश्यक नहीं हैं ॥ ६७ ॥

अथ भ्रामरी।

मूल–वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम्
योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–अब भ्रामरी कुंभकका वर्णन करतेहैं कि, वेगसे शब्दसहित जैसे हो तैसे भ्रमरके समान है शब्द जिसमें उस प्रकारसे कुंभक प्राणायामको करके फिर भ्रमरीके समान है शब्द जिसमें उसप्रकार मंद २ रेचक प्राणायामको करै यहां पूरकके अनंतर कुंभकको भी करै कदाचित् कहो कि, वह कहा क्यों नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि वह बिना कहे भी इससे सिद्ध है कि, भ्रामरी भी कुंभकहीहै इससे विशेषकर कुंभक नहीं कहाहै और पूरक रेचक इन दोनोंमें तो विशेष है इससे वे दोनोंही कहे हैं

इस पूर्वोक्त रीतिके द्वारा जो अभ्यास उसके योग (करने) से योगीं-द्रोंको चित्तमें कोई (अपूर्व) आनंदमें लीला (क्रीडा) उत्पन्न होतीहै अर्थात् इस भ्रामरी कुंभकके अभ्याससे योगियोंके चित्तमें आनंद होताहै ६८

अथ मूर्च्छा।

मूल—पूरकांते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः॥
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा॥६९॥

भाषार्थ—अब मूर्च्छा नामके कुंभकको कहते हैं कि, पूरक प्राणायामके अंतमें (पीछे) अत्यंत गाढरीतिसे पूर्वोक्त जालंधर बंधको बांधकर शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै यह कुंभिका मूर्च्छना नामकी कहाती है और मनकी मूर्च्छाको करतीहै और उत्तम सुखको देती है॥ ६९॥

अथ प्लाविनी।

मूल—अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः॥
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत्॥ ७०॥

भाषार्थ—अब प्लाविनी नामके कुंभकका वर्णन करतेहैं कि, शरीरके मध्यमें प्रवृत्त किया (भरा) उदार (अधिक) जो पवन उससे चारों ओरसे पूर्ण है उदर जिसका ऐसा योगी अगाधजलमें भी इसप्रकार प्लवता (तरता) है जैसे कमलका पत्र अर्थात् बिना आश्रयकेही जलके ऊपर तर जाताहै॥ ७०॥

मूल—प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः॥
सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः॥ ७१॥

भाषार्थ—अब प्राणायामके भेदोंको कहते हैं कि, रेचक प्राणायाम पूरक प्राणायाम कुंभक प्राणायाम इन भेदोंसे प्राणायाम तीन प्रकारका योगियोंने कहाहै प्राणायामका लक्षण गोरक्षनाथने यह

कहाहै कि[1] अपने देहकी जो जीवनकी अवस्था उसको प्राण कहते हैं और उस अवस्थाके अवरोधको आयाम कहते हें अर्थात् अवस्थाके अवरोधका नाम प्राणायाम है और रेचकका लक्षण याज्ञवल्क्यने यह कहा[2] है कि उदरसे बाहिर जो वायुका रेचन उसको रेचक कहते हैं और रेचक प्राणायामका यह लक्षण[3] है कि संपूर्ण प्राणको नासिकाके छिद्रमेंसे बाहिरनिकास और प्राणवायुको रोककर इसप्रकार टिकै कि मानो देह प्राणवायुसे शून्य है वह महान् निरोध रेचकनाम प्राणायाम कहाताहै और पूरकका लक्षण यह[4] है कि बाहिरसे जो उदरमें वायुका पूरण वह पूरक होताहै और पूरक प्राणायामका लक्षण यहहै कि बाहिर टिकीहुई पवनको नासिकाके पुटसे आकर्षण करके उसी नासिकाके पुटसे शनैः २ संपूर्ण नाडियोंको जो पूर्ण करदे उस महानिरोधको पूरकनाम प्राणायाम कहते हैं । कुंभकका लक्षण यह[6] है कि कुंभ (घट) के समान वायुको पूर्ण करके जो धारण वह कुंभक होताहै यह कुंभक प्राणायाम तो पूरक प्राणायामसे अभिन्न अर्थात् दोनों एकही हैं भिन्नतो यह है कि रेचक करै न पूरक करै किंतु नासिकाके पुटमें टिके हुए वायुकोही भलीप्रकार निश्चल रीतिपूर्वक क्रमसे जो धारण करना प्राणायामके ज्ञाता इसको कुंभक कहते हैं । अब अन्यप्रकारसे प्राणायामके विभाग करते हैं कि, कुंभक दो प्रकारका योगीजनोंने मानाहै एक सहित और दूसरा केवल अर्थात रेचकपूर्वक और पूरकपूर्वक सोई कहाहै कि वायुका आसमंतात रेचन वा पूरणकरके जो प्रणायाम करै वह सहितकुंभक होताहै

---

१ प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम् । २ बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः । ३ निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणम्बहिः शून्यमिवानिलेन । निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः । ४ बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः । ५ बाह्येस्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्यते नवै शनैः समंतात् । नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः। ६ संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत् । ७ न रेचको नैवच पूरकोत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् । सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदंति तज्ज्ञाः । ८ आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्सवै सहित कुंभकः ।

उन तीनोंमें रेचकपूर्वक प्राणायाम रेचकप्राणायाम रूपहै और पूरकपूर्वक कुंभक पूरकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै और केवलकुंभक कुंभकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै पूर्वोक्त सूर्यभेदन आदि जो प्राणायामहैं वे पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जानने।भावार्थ यह है कि, रेचकपूरक कुंभकके भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारकाहै और सहित केवलके भेदसे कुंभक दो प्रकारकाहै ॥७१ ॥

मूल–यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२ ॥

भावार्थ–अब सहित कुंभककी अभ्यासके अवधिको कहते हैं कि, केवल कुंभकप्राणायामकी सिद्धि जबतक होय तबतक सूर्यभेदन आदि सहित कंभकका अभ्यास करै सुषुम्नानाडीके भेदके अनंतर सुषुम्नाके अनंतर जब जलपूरित घटके समान शब्द होय तब केवल कुंभक सिद्ध होता है उसके अनंतर १० दश वा वीश सहित कुंभककरने अस्सी संख्याका पूरण केवल कुंभ कोंसेही करना सामर्थ्य होयतो अस्सीसे अधिकभी केवल कुंभक करने । अब केवल कुंभकके लक्षणोंको कहते हैं कि, रेचक और पूरकको छोडकर सुखसे जो वायुका धारण उसे केवलकुंभक कहते हैं ॥ ७२ ॥

मूल -प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥
कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥

भावार्थ–वह मिश्रितप्राणायाम और केवल कुंभकप्राणायाम इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहा रेचक और पूरकसे वर्जित (विना) केवल कुंभकके सिद्ध होनेपर ॥ ७३ ॥

मूल--न तस्य दुर्लभं किंचित्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

भावार्थ–उसके बल कुंभक प्राणायाम करनेवाले योगीको तीनोंलोकों में कोई वस्तु दुर्लभ नहींहै अर्थात त्रिलोकीकी संपूर्ण वस्तु सुलभ हैं– और केवल कुंभकके अभ्यासमें जो समर्थ है वह अपनी इच्छाके अनुसार प्राणवायुके धारणसे ॥ ७४ ॥

मूल–राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥
कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–राजयोगपदको भी योगी प्राप्त होताहै इसमें संशय नहीं. अब कुंभकप्राणायामके अभ्यासको परंपरासे मोक्षका हेतु वर्णन करते हैं–कि कुंभक प्राणायामके अभ्याससे आधार शक्तिरूप कुंडलीका बोध होताहै–अर्थात् निद्राका भंग होताहै और कुंडलीके बोधसे ॥ ७५ ॥

मूल–अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥
हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥७६॥

भाषार्थ–सुषुम्नानाडी अनर्गल होजाती है अर्थात् कफ आदि बंधनसे रहित होजाती है और हठयोगके अभ्यासकी सिद्धि प्रत्याहार आदिकी परम्परासे होजातीहै अर्थात् मोक्षसिद्धि होजाती है । अब हठयोग और राजयोगके जो साधन हैं उनका परस्पर उपकार्य उपकारक भावका वर्णन करते हैं कि, हठयोगके विना राजयोग सिद्ध नहीं होता और राजयोगके विना हठयोग सिद्ध नहीं होता जिससे एकके विना एककी सिद्धि नहीं होती तिससे राजयोग सिद्धि पर्यंत हठयोग और राजयोग दोनोंका अभ्यास करै अर्थात् राजयोग सिद्धिका यत्न करै यहां राजयोगपर उस राजयोगके साधन (हेतु) का वाचक है जो हठयोगसे भिन्न हो और साक्षात् वा परम्परासे राजयोगका कारण हो–जैसे जीवनके साधन लांगलमें जीवन शब्दका प्रयोग होताहै वह राजयोगका साधन उन्मनी और शाम्भवी मुद्रामें कहेंगे और अपरोक्षानुभूतिमें पंचदशांग और दशांग रूप कहाहै और वाक्यसुधामें दृश्यानुविद्ध आदिरूप कहाहै ॥ ७६ ॥

मूल–कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ॥
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–अब हठयोगके अभ्याससे राजयोग प्राप्तिका प्रकार कहते हैं

कि, कुंभकप्रायायामसे प्राणका रोध करनेके अंत (मध्य) में अन्तःकरणों का निराश्रय करदे अर्थात् सम्प्रज्ञान समाधिके होनेपर ब्रह्माकार स्थितिके अनन्तर वैराग्यसे चित्तका लय करदे इस पूर्वोक्त रीतिसे किये अभ्यासके योगसे राजयोग पदको प्राप्त होताहै यहां योगपद इसको पैदके अनुसार युक्तिका बोधकहै ॥ ७७ ॥

मूल—वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥ अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

भाषार्थ--अब हठयोग सिद्धिके लक्षणोंको कहते हैं कि देहकी कृशता मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रकटता और दोनों नेत्रोंकी निर्मलता रोगका अभाव बिन्दुका जय अर्थात् नाडियोंमें मलका अभाव ये हठयोगसिद्धिके लक्षण हैं अर्थात् ये चिह्न होय तो यह जानना कि, इसको हठयोगकी सिद्धि होजायगी ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकायां पण्डितमिहिरचंद्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

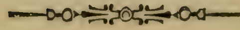
---

१ योगः सन्नहनोपायध्यानसंगातियुक्तिषु ।

॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका ।

भाषाटीकासमेता ।



अथ तृतीयोपदेशः ३.

मूल—सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

भाषार्थ—अब इसके अनंतर कुण्डली सर्व योगोंका आश्रय है इसका वर्णन करतेहैं कि, जैसे संपूर्ण पर्वत वनोंसहित जितनी भूमि हैं उनका आश्रय (आधार) जैसे सर्पोंका नायक शेष है तिसी प्रकार योगके समस्त उपायोंका आधार भी कुण्डली हैं क्योंकि कुंडलीके बोध बिना योगके संपूर्ण उपाय व्यर्थ हैं यद्यपि भूमि एकहै—तथापि देशभेदसे भूमिके भेदको मानकर बहुवचन (धात्रीणाम्) यहां दियाहै ॥ १ ॥

मूल—सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब कुंडलीके बोधका दो श्लोकोंसे फल कहते हैं जब गुरुकी प्रसन्नतासे सोती हुई कुण्डली जागती है संपूर्ण पद्म अर्थात् हृदयके षट्चक्र भिन्न होजाते हैं अर्थात् खिल जाते हैं और ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्र-ग्रंथिरूप तीनों ग्रंथि भी खुल जाती हैं ॥ २ ॥

मूल—प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ–और तिसीप्रकार प्राणकी शून्यपदवी (सुषुम्ना) राजपथ (सडक) के समान होजाती है अर्थात् प्राण उसमेंको सुखसे गमन करने लगताहै–और उसीसमय चित्तभी निरालंब होजाताहै अर्थात–विषयोंका अनुरागी नहीं रहता और उसीसमय कालका वंचन होताहै अर्थात्–मृत्युका भय दूर होजाताहै ॥ ३ ॥

मूल–सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
इमशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ–अब सुषुम्नानाडीके पर्यायोंको कहते हैं कि, सुषुम्ना, शून्य-पदवी, ब्रह्मरंध्र महापथ, इमशान, शांभवी, मध्यमार्ग ये संपूर्ण शब्द एक अर्थके वाचक हैं अर्थात इन सबका सुषुम्नानाडी अर्थ है जिससे कुण्डलीके बोधसेही षट्चक्र भेद आदि होते हैं इससे संपूर्ण प्रयत्नसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मकी प्राप्तिका उपायजो सुषुम्ना उसके अग्रभागमें सुषुम्नाके द्वारको ढककर सोतीहुई जो ईश्वरी (कुण्डली) है उसका प्रबोध (जगाना) करनेके लिये मुद्राओंका अभ्यास करै अर्थात महामुद्रा आदिको करै ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूल–महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ–महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी वज्रोली, शक्तिचालन ये पूर्वोक्त दशमुद्रा जरा और मरणको नष्ट करती हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

मूल–आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

भाषार्थ–और आदिनाथने कहे जो उत्तम आठ ऐश्वर्य उनको भलीप्रकार देती हैं और संपूर्ण जो कपिल आदि सिद्ध हैं उनको प्रिय हैं और देवताओंकोभी दुर्लभ हैं वे आठ ऐश्वर्य ये हैं कि–अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति,प्राकाम्य,ईशता,वशिता उनमें अणिमा वह सिद्धि होतीहै कि योगीके संकल्पमात्रसे प्रकृतिके दूर होनेपर परमाणुके समान सूक्ष्म देह होजाय उसे अणिमा १ कहते हैं और प्रकृतिके आपूरको करके अर्थात् अपने देहमें भरके आकाशके समान महान् स्थूल होजानेको महिमा २सिद्धि कहते हैं–और तूल (रुई) आदि लघुपदार्थकाभी पर्वत आदिके समान जो गुरु (भारी) होजाना है उसे गरिमा ३ कहते हैं और अत्यंत गुरु (पर्वत आदि) का जो तूल आदिके समान लघु (हलका) होना है उसे लघिमा ४कहते हैं और संपूर्ण पदार्थोंके जो समीप पहुँचना जैसे कि भूमिपर स्थित योगी अंगुलिके अग्रसे चंद्रमाका स्पर्श करले इसे प्राप्ति ५ कहते हैं और इच्छाका अनभिघात अर्थात् जलके समान भूमिमें प्रविष्ट होजाय और निकस आवे इसको प्राकाम्य ६ कहते हैं। पांचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिकपदार्थ इनको उत्पत्ति और प्रलय और पालनके सामर्थ्यको ईशिता सिद्धि ७ कहते हैं और भूत भौतिक पदार्थोंको अपने आधीन करनेको वशिता ८ सिद्धि कहते हैं ये आठों सिद्धि पूर्वोक्त दशों मुद्राओंके करनेसे होती हैं ॥ ८ ॥

मूल–गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

भाषार्थ–ये पूर्वोक्त दशों मुद्रा इसप्रकार प्रयत्नसे गुप्त करने योग्य हैं जैसे हीरा आदिरत्नोंका करंड (पटियारी) गुप्त करने योग्य होताहै और किसी मनुष्यको वा ब्रह्माकोभी इसप्रकार नहीं कहनी. अन्यकी

तो कौन कथा है जैसे कुलीनस्त्रीके सुरत (संगम) को किसीको नहीं कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा।

मूल-पादमूलेन वामेन योनिं संपीडच्य दक्षिणम् ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥

भाषार्थ-अब दसामुद्राओंमें प्रथम जो महामुद्रा उसका वर्णन करते हैं कि, वामपादके मूल (तल) से अर्थात् पार्ष्णिसे योनिस्थानको अर्थात गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबाना) करके और दक्षिणपादको प्रसारित (फैलाना) करके अर्थात् दक्षिणपादकी पार्ष्णि (ऐड) को भूमिसे मिलाकर और उसकी अंगुलियोंको ऊपरको करके और उस दक्षिणपादको सुकडीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनीओंसे दृढरीतिसे (खूब) अंगूठेके स्थानमें धारण करै अर्थात जोरसे पकडले ॥१०॥

मूल-कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

भाषार्थ-और कंठके प्रदेशमें भलीप्रकार जालंधरनामके बंधको करके वायुको ऊर्द्धदेश (सुषुम्ना) मेंही धारण करै अर्थात मूलबंध करे और सांप्रदायिक अर्थात् संप्रदायके ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, वह मूलबंध तो योनिका संपीडन और जिह्वाके बंधनसे चरितार्थ है अर्थात पृथक मूलबंध करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा करनेसे जैसे दंडसे हताहुआ सर्प (कुंडली) दंडके समान आकारवाला होजाताहै अर्थात् वक्रताको त्यागकर भलीप्रकार सरल होजाताहै ॥ ११ ॥

मूल-ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

भाषार्थ-तिसीप्रकार आधार शक्तिरूप जो कुंडली है वह शीघ्रही

ऋज्वीभूता (सरल) होजाती हैं और उससमय इडा और पिंगलारूप जो दोनों पुट हैं वे आश्रय जिसके ऐसी वह मरणकी अवस्था होजाती है अर्थात् कुंडलीका बोध होनेपर सुषुम्नानाडीमें प्राणका प्रवेश होजाता है इससे इडा और पिंगला दोनोंका प्राणवियोग (मरण) होजाताहै ॥ १२॥

मूल–ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

भाषार्थ–तिससे शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै वेगसे न करै क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानि होती है तिससेही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहते हैं और वह महामुद्रा आदिनाथ आदिमहासिद्धोंने भलीप्रकार दिखाई है । अब महामुद्राके अन्वर्थनामका वर्णन करते हैं कि, अविद्या, स्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महाक्लेश और मरण आदि दुःख इस मुद्राके करनेसे क्षीण (नष्ट) होजाताहै तिससेही देवताओंमें श्रेष्ठ इसको महामुद्रा कहते हैं अर्थात महाक्लेशोंके नष्ट करनेसेही इसका देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है ॥ १३ ॥ १४ ॥

मूल–चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५ ॥

भाषार्थ–अब महामुद्राके अभ्यासका क्रम कहते हैं कि–चंद्रनाडी (इडा) से उपलक्षित (ज्ञात) जो अंग उसे चंद्रांग कहते हैं अर्थात् वाम अंगकेविषे भलीप्रकार अभ्यास करके सूर्य नाडी (पिंगला) से उपलक्षित जो दक्षिण अंग उसकेविषे अभ्यास करै और जबतक कुंभक प्राणायामोंके अभ्यासकी संख्या समान (तुल्य) हो तबतक भलीप्रकार अभ्यास करै

फिर संख्याओंकी समानताके अनंतर महामुद्राका विसर्जन करदे. यहां यह क्रम जानना कि, संकुचित किये वामपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें युक्त (मिला) करके प्रसारित (पसारे) दक्षिण पादके अँगूठेको आकुंचित (सुकड़ी) तर्जनीयोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे वामांगमें अभ्यास कहते हैं. इस अभ्यासमें पूरित किया (भराहुआ) वायु वामांगमें टिकता है और आकुंचित किये दक्षिणपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें संयुक्त करके और प्रसारित (फैलाये) किये वामपादके अँगूठेको आकुंचित कीहुई दोनोंहाथोंकी तर्जनियोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे दक्षांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया वायु दाक्षिण अंगसे ठिकताहै ॥१५॥

मूल--नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥

भाषार्थ--अब तीन श्लोकोंसे महामुद्राके गुणोंको कहते हैं कि, जिससे महामुद्रा अभ्यास करनेवाले योगीको पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं है तिससे नीरस (बिगडे हुये) भी संपूर्ण भक्षण किये कटु अम्ल आदिरस जीर्ण हो (पच) जाते हैं और भक्षण किया विषके समान घोर अन्नभी अमृतके समान जीर्ण होजाताहै अर्थात् पचनेके अयोग्यभी पचजाता है तो योग्य क्यों न पचेगा ? ॥ १६ ॥

मूल--क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥१७॥

भाषार्थ--जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करताहै क्षयगुदावर्तमें गुल्मरूप रोग विशेष अजीर्ण अर्थात् भोजन किये अन्नका अपरिपाक ये हैं मुख्य जिनमें ऐसे महोदर ज्वर आदि दोष उसके क्षय हो जातेहैं अर्थात् नहीं रहते हैं ॥ १७ ॥

मूल--कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥१८॥

भाषार्थ- अब महामुद्राको समाप्त करते हुये उसको गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, यह पूर्वोक्त जो महामुद्रा वर्णन की है वह मनुष्योंको महासिद्धिकी करनेवाली है और बडे यत्नसे गुप्त करने योग्य है और जिस किसी अनधिकारी पुरुषको न देनी ॥ १८ ॥

मूल-पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

इति महाबंध।

भाषार्थ-अब महाबंधका वर्णन करते हैं कि, वामचरणकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागमें लगावे और वामजंघा ऊपर दक्षिण पादको रखकर बैठे ॥ १९ ॥

मूल-पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत्॥२०॥

भाषार्थ-इसपूर्वोक्त आसन बाँधनेके अनंतर वायुको पूरण करके और हृदयमें दृढतासे (खूब) चुबुक (ठोडी) को अर्थात् इस जालंधर बंधको करके और योनि (गुदा लिंगकेमध्य) को संकुचित करके अर्थात् मूलबंधको करके परंतु यह मूलबंध जिह्वाके बंधनसेही सिद्ध है इससे करने योग्य नहीं है फिर मनको मध्य नाडीकेविषे प्रविष्ट करै ॥ २० ॥

मूल-धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ-फिर वायुको यथाशक्ति धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके शनैः २ वायुका रेचन करै. इसप्रकार वाम अंगमें भलीप्रकार अभ्यास करके दक्षिण अंगमें फिर अभ्यास करै और वह अभ्यास तबतक करै जबतक वामांग अभ्यासकी जो संख्या उसकी तुल्यताहो ॥ २१ ॥

मूल—मतमत्र तु केषां चित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥२२॥

भाषार्थ—अब जालंधरबंधमें कंठके संकोचका अनुपयोग वर्णन करते हैं कि; किन्हीं २ आचार्योंका यह मत है कि, इस जालंधरबंधमें कंठका जो बंधन (संकोच) उसको विशेषकर वर्जदे. क्योंकि राजदंतों (दाड) के ऊपर स्थित जो जिह्वा उसका बंधही जालंधर बंधमें प्रशस्त होताहै अर्थात् कंठ संकोचकी अपेक्षा वह उत्तम होताहै ॥ २२ ॥

मूल--अयं तु सर्वनाडीनामूर्द्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—यह राजदंतोंमें स्थित जिह्वाका बंध, बहत्तर सहस्र ७२००० सुषुम्नासे भिन्न नाडियोंकी जो ऊर्ध्वगति अर्थात् नाडियोंमें जो प्राणवायुका ऊर्द्ध्वगमन उसका प्रतिबंधक है इससे यह सूचित किया कि, नाडियोंके जालको जो बंधन करै उसे जालंधरबंध कहतेहैं यह जालंधर बंधका फल इससेही सिद्ध है अब महाबंधके फलको कहते हैं कि, यह महाबंध निश्चयसे महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै ॥ २३ ॥

मूल—कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—और मृत्युके पाशका जो महाबंधन उसके छुटानेमें विशेषकर प्रवीण है और तीन नदियोंका संगम जो प्रयाग है उसको करताहै और मनको, भ्रुकुटियोंके मध्यमे जो शिवजीका स्थानरूप केदार है, उसमें प्राप्त करताहै अर्थात् पहुँचता है ॥ २४ ॥

मूल—रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

भाषार्थ-अब महावेधके कहनेकेलिये प्रथम उसकी उत्तमताको

कहते हैं कि, रूप (सुंदरता) और इसवचनमें[1] कहीहुई लावण्यको मोतियोंमें छाया (प्रतिबिंबकी) तरलताके समान स्त्रीके अंगोमें अंतर जो प्रतीत होताहै वह यहां लावण्य कहाता है. इन दोनों पूर्वोक्तरूप और लावण्यसे युक्त स्त्री, पुरुषके विना निष्फल है. तिसीप्रकार महामुद्रा और बंध ये दोनों भी महावेधके विना निष्फल हैं, इस श्लोकमें वेधपदसे महावेध लेते हैं, क्योंकि इस[2] भाष्यकारके वचनसे प्रत्ययके विनाभी पूर्व और उत्तरपदका लोप कहना महच्छब्दका लोप होताहै ॥ २५ ॥

महावेधः ।

मूल–महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

भाषार्थ–अब महावेधका वर्णन करते हैं कि, महाबंधमुद्रामें स्थित अर्थात् करताहुआ योगी एकाग्रबुद्धिसे पूरक प्राणायामको करके अर्थात् योगमार्गसे नासिकाके पुटोंसे वायुका ग्रहण करके कंठमुद्रा (जालंधर मुद्रा) से प्राणआदि वायुओंको जो ऊर्द्ध अधोगतिरूप गमन है उसको निश्चल रीतिसे रोककर अर्थात् कुंभकप्राणायामको करके ॥ २६ ॥

मूल–समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

भाषार्थ–भूमिपर लगाहै तल जिनका ऐसे सरल हाथोंको रखकर अपने जो स्फिच (चूतड) हैं उनको भूमिपर लगेहुए हाथोंके आश्रय और योनिस्थानमें लगीहुई पार्ष्णि जिसकी ऐसे वामपादसहित पूर्वोक्त स्फिचोंको भूमिसे ऊपर किंचित् उठाकर शनैः २ भलीप्रकार ताडै. इस प्रकार करनेसे इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंका अवलंघन (छोड)

---

१ मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवांतरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्य महोच्यते । २ विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः ।

करके सुषुम्नाके मध्यमें वायु चलाने लगतीहै अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी गति होजाती है ॥ २७ ॥

मूल-सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृतायवै ॥
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

भावार्थ-फिर चंद्रमा, सूर्य, अग्नि अर्थात ये तीनों देवता हैं क्रमसे अधिष्ठाता जिनके ऐसी इडा पिंगला सुषुम्ना नाडियोंका संबंधमोक्षका हेतु निश्चयसे होजाताहै अर्थात् तीनों नाडियोंका वायु एक हो जाताहै तब इडा और पिंगलाके मध्यमें प्राण संचारके अभावसे मरण अवस्था उत्पन्न होजाती है, क्योंकि, इडा पिंगलामें जो प्राणोंका संचार उसका नामही जीवन है. फिर मरण अवस्थाकी उत्पत्तिके अनंतर वायुको विरेचन करदे अर्थात नासिकाके पुटोंमेंसे शनैः २ त्यागदे ॥ २८ ॥

मूल-महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

भावार्थ-यह महावेध अभ्यास करनेसे अणिमा आदि महासिद्धियोंको भलिप्रकार देताहै और वली अर्थात् वृद्ध अवस्थासे चर्मका संकोच और पलित अर्थात् वृद्धतासे केशोंकी शुक्लता और देहका कंपना इनको नष्टकरता है इसीसे साधकों (अभ्यासी) में जो उत्तम हैं वे इस महावेधका अभ्याससरूप सेवन करते हैं ॥ २९ ॥

मूल-एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

भावार्थ-अब महामुद्रा आदि पूर्वोक्त तीनोंको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, ये तीनों मुद्रा अत्यंत गुप्त करने योग्य हैं और जरा और मृत्युको विशेषकर नष्ट करती हैं और जठराग्निको बढाती हैं और अणिमा आदिसिद्धियोंको देती हैं अर्थात अणिमा आदि गुणोंको

भलीप्रकार उत्पन्न करती हैं और चकारके पढनेसे आरोग्य और बिंदुका जय समझना और इसश्लोकमे एवपद निश्चयका बोधक है ॥ ३० ॥

**मूल–अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥**

भाषार्थ-अब इनतीनोंके पृथक् २ साधन विशेषको कहते हैं कि, प्रहर २ में और दिन २ में वारंवार आठप्रकारसे ये तीनों मुद्रा की जाती हैं. यहां भी एवशब्द निश्चयका वाची है और ये तीनों मुद्रा पुण्यके समूहको करती हैं और पापोंका जो समूह है उसको छेदन सदैव करती हैं और भलीप्रकार गुरुकी है शिक्षा जिनको ऐसे पुरुषोंको पूर्वोक्त आठप्रकारका जो प्रहर २ और दिन २ में साधन है वह अल्प २ (थोडा) ही करना योग्य है अधिक २ नहीं ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ।

**मूल--कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥**

भाषार्थ–अब खेचरीमुद्राके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम खेचरीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें विपरीत (उलटी) हुई जिह्वा तो प्रविष्ट होजाय और भ्रकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरीमुद्रा होतीहै अर्थात् कपालके छिद्रमें जिह्वाके प्रवेशपूर्वक जो भ्रुकुटियोंके मध्यका दर्शन उसे खेचरी-मुद्रा कहते हैं ॥ ३२ ॥

**मूल–छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥३३॥**

भाषार्थ–अब खेचरीमुद्राकी सिद्धिके लक्षणका वर्णन करते हैं कि, छेदन जिसका आगे शीघ्रही वर्णन करेंगे और चालन अर्थात् हाथके अँगूठे और तर्जनीसे जिह्वाको पकड़कर वाम और दक्षिणरूपसे परिवर्तन (हलाना) और पूर्वोक्त अँगूठे और तर्जनीसे गोदोहनके समान जिह्वाका दोहन इन तीनोंसे कला (जिह्वा) को तबतक बढ़ावे जबतक वह कला भृकुटियोंके मध्यका स्पर्श करै फिर स्पर्श होनेपर खेचरीमुद्राकी सिद्धि को जानै ॥ ३३ ॥

मूल--स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीकी सिद्धिके साधनोंका वर्णन करते हैं कि, स्नुही (सेहुंड) के पत्तेके समान जो अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है चिकने और निर्मल उस शास्त्रको ग्रहण करके उससे जिह्वाके मूलकी नाडीको रोममात्र छेदन करदे ॥ ३४ ॥

मूल--ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–और छेदनके अनंतर चूर्णकिये (पीसे) हुये सैंधव(लवण) और हरडेसे जिह्वाके मूलको भलीप्रकार घिसै सातदिनतक प्रतिदिन छेदन और धिसनेको पूर्वोक्तप्रकारसे प्रातःकाल और सायंकालको करै और योगके अभ्यासीको लवणका निषेधहै इससे यहां खदिर (कत्था) और पथ्याका चूर्ण लेना योगियोंको कहाहै और मूलग्रंथमें तो सैंधवका कथन हठयोगके अभ्याससे पूर्वखेचरीकी सिद्धिके अभिप्रायसे है फिर सातदिनके बीतनेपर आठवेदिन रोममात्रका छेदन करै अर्थात् प्रथमछेदनसे अधिक रोममात्र-का छेदन करै ॥ ३५ ॥

मूल--एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार क्रमसे प्रथम रोममात्रका छेदन और उसकाही सातदिनपर्यंत सायंकाल प्रातःकालके समय घर्षणको प्रतिदिन युक्तहुआ छः मासपर्यंत करै और आठवेंदिन पूर्व किये छेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करके पूर्वोक्त घर्षणको करता रहै इसरीतिसे छः मासके अनंतर जिह्वाके मूलभागमें जो शिराबंध है अर्थात् जिससे जिह्वा कपाल छिद्रमें नहीं पहुँच सकती वह बंधन है वह भलीप्रकार नष्ट होजाताहै ॥ ३६ ॥

मूल–कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–अब छेदन आदिसे जिह्वाको वृद्धि होनेपर करने योग्य कर्म को कहते हैं कि,जिह्वाको पराङ्मुख करके अर्थात् पश्चिमको लौटकर तीनों नाडियोंका मार्गजो कपालका छिद्र है उसमें संयुक्त करदे वही खेचरी मद्रा होती है और उसको ही व्योमचक्र कहते हैं ॥ ३७ ॥

मूल--रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, जिह्वाको तालुके ऊपरले छिद्रमें करके जो योगी क्षणार्धभी टिकता है अर्थात् एक घटिकामात्र भी स्थित रहताहै यहां क्षण पदसे इस वचनके अनुसार मुहूर्तका ग्रहण है वह योगी धातुओंकी विषमतारूप व्याधि और मृत्यु अर्थात प्राण और देह-का वियोग और वृद्ध अवस्था आदिकोंसे और सर्प विच्छु आदिके विषोंसे विशेषकर छुट जाताहै ॥ ३८ ॥

मूल–न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥३९॥

भाषार्थ–जो योगी खेचरीमुद्राको जानताहै उसको रोग, मरण और

---

१ उत्सवे च प्रकोष्ठ च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायांसमये पि निगद्यते ।

अंतःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तंद्रा और निद्रा क्षुधा तृषा और चित्तकी तमोगुणीअवस्थारूप मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥ ३९ ॥

मूल--पीडयते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

भाषार्थ–जो खेचरीको जानताहै वह रोगसे पीडित नहीं होता है और न कर्मसे लिप्त होताहै और न कालसे बोधा जाताहै ॥ ४० ॥

मूल--चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–जिससे चित्त (अंतःकरण) भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें विचरता है और जिह्वाभी भ्रुकुटियोंके मध्यमेंही जाकर विचरती है तिसीसे सिद्धों (कपिल आदि) की निरूपण कीहुई यह मुद्रा खेचरी इसनामसे प्रसिद्ध है. भ्रुकुटियाके मध्यरूप आकाशमें जिसमुद्राके करनेसे चित्त और जिह्वा विचरै उसे खेचरी कहते हैं इसव्युत्पत्तिसे सिद्धोंने यह अन्वर्थमुद्रा वर्णन कीहै. इन पूर्वोक्त तीनोंश्लोकोंमें व्याधिआदिकी जो पुनरुक्ति है वह इसलिये दूषित नहीं है कि, ये तीनों श्लोक संगृहीत (किसीके रचेहुये) हैं अर्थात् मूलके नहीं हैं ॥ ४१ ॥

मूल-खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च॥४२॥

भाषार्थ–जिस योगीने खेचरीमुद्रासे लंबिका (तालु) के ऊपरका छिद्र ढकलिया है कामिनीके स्पर्श करनेपरभीःउस योगीका बिंदु (वीर्य) क्षरित (पडता) नहीं होता अर्थात् अपने मस्तकरूप स्थानसे नहीं गिरता है ॥ ४२ ॥

मूल–चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्द्धं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया॥४३॥

भाषार्थ–और चलायमानहुआभी बिंदु जिससमय योनिके मंडलमें प्राप्त होजाता है तोभी लिंगके संकोचनरूप योनिमुद्रासे अर्थात वज्रोलीसे निरंतर बँधाहुआ बिंदु आकर्षणशक्तिसे खिंचा हुआ सुषुम्ना नाडीके मार्गसे ऊर्द्ध (बिंदुके स्थानमें) को चलाजाता है ॥ ४३ ॥

मूल–ऊर्द्धजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–तालुके ऊपरके छिद्रके उन्मुख है जिह्वा जिसकी ऐसा जो योगी वह सोमपान करता है अर्थात् ऊर्द्ध छिद्रमेंसे गिरतेहुये चंद्रामृतको पीताहै योगका ज्ञाता वह एकही मासार्द्धसे अर्थात् पक्षभरसे मृत्युको जीतताहै इसमें संदेह नहीं है अर्थात यह निश्चित है ॥ ४४ ॥

मूल–नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

भाषार्थ–जिस योगीका शरीर नित्य (सदैव) चंद्रकलारूप अमृतसे पूर्ण रहताहै तक्षक सर्पसे डसेहुयेभी उसके शरीरमें विष नहीं फैलता अर्थात् सर्पका विष नहीं चढताहै ॥ ४५ ॥

मूल–इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–जैसे अग्नि काष्ठआदि इंधनोंको और दीपक तैल और बत्तीको नहीं त्यागते हैं अर्थात् उनके विना नहीं रहते हैं तैसेही देही (जीवात्मा) सोमकलासे पूर्ण देहको नहीं त्यागताहै अर्थात सोमकलासे पूर्ण देह सदैव बना रहताहै ॥ ४६ ॥

मूल–गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो आगे कहेंगे) को भक्षण

करताहै और प्रतिदिन अमरवारुणी (जो आगे कहेंगे) को पीता है उसकोही हम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न मानते हैं अन्य सब मनुष्य कुलघातक (नाशक) हैं. क्योंकि श्रेष्ठकुलमें उनका जन्म निरर्थक है सोई ब्रह्मवैवर्त्तमें कहाहै कि, योगीके मातापिता कृतार्थ हैं और उसके देश और कुलको धन्य है जहां योगवान् पैदा होताहै और योगीको दिया दान अक्षय होताहै पुरुष और प्रकृतिका विवेकी योगीजन दर्शन, भाषण, स्पर्श करनेसे मनुष्योंके कोटियों जन्मोंके पापोंसे पवित्र करते हैं। ब्रह्मांडपुराणमें लिखा है कि, सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र ब्रह्मचारियोंसे योगाभ्यासी अधिक होताहै और राजयोगके विषयमें वामदेवके प्रति शिवजीका वाक्यहै कि, राजयोगके यथार्थ माहात्म्यको कौन जान सकताहै? राजयोगका ज्ञानी जहां वसताहै वह देश पुण्यात्मा है इसके दर्शन और पूजनसे इक्कीस कुलसहित मूर्ख भी मुक्तिके पदको प्राप्त होते हैं. योगमें तत्पर तो क्यों न होंगे- जो अंतर्योग और बहिर्योगको विशेषकर जानताहै वह मुझे और तुझेभी नमस्कार करने योग्य है और शेषमनुष्योंको वंदना करने योग्य तो क्यों न होगा—कूर्मपुराणमें लिखाहै कि, एकसमय वा द्विकालमें वा त्रिकालमें वा नित्य जो महायोगका अभ्यास करते हैं वे महेश्वर (शिव) जानने—इन वचनोंसे योग सर्वोत्तम है ॥ ४७ ॥

मूल—गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

---

१ कृतार्थौपितरौतेनधन्योदेशः कुलंचतत्। जायते योगवान्यत्रदत्तमक्षयतां व्रजेत् ॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतायातं पुनातिवृजिनं नृणाम् । २ गृहस्थानांसहस्रेणवानप्रस्थशतेनच । ब्रह्मचारिसहस्रेणयोगाभ्यासीविशिष्यते । ३ राजयोगस्यमाहात्म्यंकोविजानातितत्त्वतः । सज्ज्ञानीवसतेयत्रसदेशःपुण्यभाजनम् ॥ दर्शनादर्चनादस्यत्रिःसप्तकुलसंयुताः । अज्ञामुक्तिपदंयांति किंपुनस्तत्परायणाः । अंतर्योगं बहिर्योगं योजानातिविशेषतः। त्वयामयाप्यसौवंद्यः शेषैर्वंद्यस्तुकिंपुनः। ४ एककालं द्विकालं वा त्रिकालंनित्यमेववा । येयुंजंते महायोगं विज्ञेयास्तेमहेश्वराः ॥

भाषार्थ-अब गोमांस शब्दके अर्थको कहते हैं कि, गोपदसे जिह्वा कही जातीहै और तालुके समीप जो ऊर्द्ध्वछिद्र उसमें जो जिह्वाका प्रवेश उसको गोमांसभक्षण कहते हैं--वह गोमांसभक्षण महापातकोंका नाश करनेवालाहै ॥ ४८ ॥

मूल-जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-अब अमरवारुणी शब्दके अर्थको कहते हैं कि, तालुके ऊर्द्ध्व छिद्रमें जिह्वाके प्रवेशसे उत्पन्न हुयी जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चंद्रमासे झरताहै अर्थात् भ्रुकुटियोंके मध्यमें वामभागमें स्थित चंद्रमासे बिंदुरूप सार गिरताहै उसको अमरवारुणी कहते हैं ॥ ४९ ॥

मूल-चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ५०॥

भाषार्थ-यदि रस (सोमकलाका अमृत) का स्यंदन (झरना) करनेवाली और लवणके रसके समान और मरीच आदि कटु और इमली आदि अम्ल और दूध इनके सदृश और मधु (सहत) और घृत इनकी तुल्य इन सब विशेषणोंसे रसमें अनेकरस और मधुरता और स्निग्धता (चिकनाई) कही उस रसके झरनेवाली जिह्वाकोभी वैसीही कही समझना अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारकी जिह्वा तालुके ऊपर वर्तमानछिद्रका वारंवार चुंबन (स्पर्श) करै तो उस मनुष्यकी व्याधियोंका हरण और वृद्ध अवस्थाका अंत करना और सन्मुख आये शस्त्रका निवारण और अणिमा आदि आठ सिद्धि हैं जिसमें ऐसा अमरत्व (देवत्व) और सिद्धोंकी अंगनाओंका वा सिद्धरूप अंगनाओंका आकर्षण (बुलाना) उसको ये फल होते हैं ॥५०॥

मूल—मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वा-
स्योरसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन्॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्नि-
र्व्याधिः स मृणालको मलवपुर्योगी चिरं जीवति५१

भाषार्थ—जो योगी, जिह्वाको कपालके छिद्रमें लगाकर और ऊपरको मुख करके इससे विपरीत करणी सूचितकी—और परमशक्ति जो कुंडलिनी उसका ध्यान करताहुआ प्राणवायुके साधन और हठयोगसे प्राप्त और षोडश हैं पत्र जिसके ऐसे पद्ममें मस्तकसे पतित और निर्मल और धारारूप और ऊपरको हैं तरंग जिसकी ऐसे चंद्रकलाके जलको पीताहै व्याधिसे रहित और मृणाल (भिस) के समान कोमल है वपु (देह) जिसका ऐसा वह योगी चिरकालतक जीताहै ॥ ५१ ॥

मूल--यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं तस्मि-
स्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तद्ब-
ध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥५२॥

भाषार्थ—मेरुके समान सबसे ऊँची जो सुषुम्ना नाडी उसके मूर्द्धा (ऊपरका भाग) के मध्यमें टिकाहुआ जो प्रालेय अर्थात् सोमकलाका जल है और जिसमें वह जल स्थित है ऐसा विवर (छिद्र) है उस विवरमें रजोगुण तमोगुणसे नहीं हुआ है तिरस्कार जिसका ऐसी बुद्धिवाले मनुष्य आत्मतत्त्वको कहते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है—क्योंकि आत्मा विभु (व्यापक) है और खेचरीमुद्रामें उस विवरमें आत्मा प्रकट होताहै इससे उसमें तत्त्व है यह कहना ठीक है—और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि शब्दोंका

१ तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।

अर्थ जो इडा, पिंगला,सुषुम्ना,गांधारी आदि नाडी हैं उनका मुखभी उसी छिद्रके समीपमें हैं और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससेही मनुष्योंकी मृत्यु होतीहै तिससे शोभन करणरूप खेचरीमुद्राको बांधे (करै) क्योंकि खेचरीमुद्राके करनेसे चंद्रमासे सारके न झरनेसे मृत्यु न होगी और अन्यथा अर्थात खेचरीमुद्राके न करनेसे देहकी जो रूप, लावण्य, बल वज्रके समान संहनन (दृढता) रूपसिद्धि न होगी। भावार्थ यह है कि, जो सोमकलाका जल सुषुम्नाके मध्यमें स्थित है वह जल जिस छिद्रमें है उस छिद्रमेंही बुद्धिमान् मनुष्य परमात्माको कहतेहैं और उसी छिद्रके समीप इडा पिंगला आदि नाडियोंका मुखहै और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससे मनुष्योंकी मृत्यु होतीहै तिससे खेचरी मुद्राको करै क्योंकि न करनेसे देहकी सिद्धि नहीं होसकती अर्थात् पुष्ट न होगा ॥ ५२ ॥

मूल -सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने॥५३॥

भाषार्थ–इडा आदि नाडियोंके जो पांच स्रोत (प्रवाह) हैं उनसे युक्त जो सुषिर (छिद्र) है वह ज्ञानका उत्पादक है अर्थात् आत्माके प्रत्यक्षका जनक है–शोक मोह आदिसे रहितरूप निरंजन और शून्यरूप, जो है उसके विषे खचरीमुद्रा स्थिर होतीहै अर्थात् खेचरीमुद्राकी महिमासे उस छिद्रमें मनके प्रवेशसे आत्मज्ञान होताहै ॥ ५३ ॥

मूल--एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४ ॥

भाषार्थ–सृष्टिरूप जो प्रणव (ओं) नामका बीजहै वह मुख्य है सोई मांडूक्य उपनिषद्में कहा है कि, यह संपूर्ण जगत् ओं इस अक्षररूप है–और खेचरीमुद्राभी एक (मुख्य) है और निरालंब अर्थात आलंबन शून्य देव परमात्मा भी एकही है–और मनोन्मनी अवस्था भी एकही है

१ ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ।

यहां एकशब्द इस अमरके अनुसार मुख्यका बोधक है अर्थात् बीज आदिमें जैसे प्रणव मुख्य है ऐसेही मुद्राओंमें खेचरीभी मुख्य है ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबंधः ।

मूल–बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥५५॥

भाषार्थ–अब उड्डीयानबंधको कहनेके अभिलाषी आचार्य प्रथम उड्डीयान शब्दके अर्थको कहते हैं कि, जिस बँधसे बंधाहुआ प्राण मध्य नाडीरूप सुषुम्नाके विषे उडजाय अर्थात् आकाशमेंसे सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाय तिसकारणसे यह बंध मत्स्येंद्र आदि योगियोंने उड्डीयान नामका कहा है अर्थात सुषुम्नामें जिससे प्राण उडै इस व्युत्पत्तिसे इसका उड्डीयान नाम रक्खा है ॥ ५५ ॥

मूल–उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–सदैव देहके अवकाशमें गति है जिसकी ऐसा महा खग-रूप प्राण जिस बंधसे निरंतर उड्डीन (पक्षीके समान गति) को सुषुम्नामें करताहै वही बंध उड्डीयान नामका होताहै उसमें मैं बंधके स्वरूपको कहता हूं ॥ ५६ ॥

मूल–उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–उदर (पेटके तुंद) में नाभिके ऊपर और नीचे पश्चिम तान करै अर्थात नाभिके ऊपरके और निचले भागको इसप्रकार तान (आकर्षण) करै जैसे वे दोनों भाग पृष्ठमें लगजाय यह नाभिके ऊर्द्ध अधो-भागका तान उड्डीयान नामका बंध होताहै और यह बंध मृत्युरूप हस्ती को केसरी है अर्थात् नाशक है ॥ ५७ ॥

---

१ एकेमुख्यान्यकेवलाः ।

मूल–उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–हितके उपदेष्टा गुरुने उड्डीयान सदैव स्वाभाविक कहाहै अर्थात प्राणका बहिर्गमन स्वभावसे सबको होताहै परंतु जो पुरुष इसका निरतंर अभ्यास करता है वृद्धभी वह तरुण (युवा) के समान आचरण करताहै ॥ ५८ ॥

मूल--नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥५९ ॥

भाषार्थ–नाभिके ऊपर और नीचे भलीप्रकार यत्नसे तान करै अर्थात् यत्न विशेषसे पश्चिमतान करै और षण्मास (छःमास) पर्यंत इस उड्डीयानबंधका वारंवार अभ्यास करै तो मृत्युको जीतताहै इसमें संशय नहीं है ॥ ५९ ॥

मूल सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ६०॥

भाषार्थ–संपूर्ण बंधोंके मध्यमें उड्डीयान बंध उत्तम है,क्योंकि उड्डीयान बंधके दृढ होनेपर स्वाभाविकी मुक्ति होती है अर्थात् उड्डीयन बंधके करानेसे पक्षीके समान गतिसे सुषुम्नाके विषे प्राण मस्तकमें चलाजाताहै उस समाधिमें इस वाक्यके[१] अनुसार अनायाससे मुक्ति होजाती है ॥ ६०॥

अथ मूलबंधः ।

मूल–पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–अब मूलबंधमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पार्ष्णिके भाग

---

१ समाधौ मोक्षमाप्नोति ।

(गुल्फोंका अधः प्रदेश) से योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्य-भागको भलीप्रकार पीडित (दबा) करके गुदाका संकोच करै और अपान वायुका ऊपरको आकर्षण करै यह मूलबंधक होताहै ॥ ६१ ॥

मूल–अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–जो बंध अधः (नीचेको) गति है जिसकी ऐसे अपान वायुको बलसे ऊर्द्ध्वगामी करता है अर्थात् जिसके करनेसे अपान सुषुम्नामें पहुँच जाता है योगके अभ्यासी उस बंधको मूलबंध कहते हैं अर्थात् मूल स्थानका जिससे बंधन हो वह मूलबंध अन्वर्थनामसे कहाताहै इस श्लोकसे मूलबंध शब्दका अर्थ कहा और पिछले श्लोकसे बंधनका प्रकार कहाहै इससे पुनरुक्तिदोष नहीं है ॥ ६२ ॥

मूल–गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–अब योगबीजमें कहीहुई रीतिसे मूलबंधको कहते हैं कि, पार्ष्णिसे गुदाको भलीप्रकार पीडित करके वायुका बलसे इसप्रकार वारं-वार आकर्षण करै जैसे वा सुषुम्नाके ऊपरले भागमें पहुँचजाय यह मूलबंध कहाताहै इस श्लोकमें तु यह शब्द पिछले मूलबंधसे विशेष जताने के लिये है ॥ ६३ ॥

मूल–प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

भाषार्थ–अब मूलबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, नीचेको है गति जिनकी ऐसे प्राण और अपान दोनों वायु और अनाहत (स्वाभाविक) ध्वनि और बिंदु (अनुस्वार) ये दोनों मूलबंधसे एकताको प्राप्त होकर योगाभ्यासीको योगकी भलीप्रकार सिद्धिको देते हैं इसमें संशय नहीं है. तात्पर्य यह है कि, मूलबंधके करनेसे अपान प्राणके संग एकताको प्राप्त

होकर सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै फिर नादकी प्रकटता होतीहै फिर नादके संग प्राण अपान हृदयके ऊपर जाकर और नादके संग बिंदुकी एकताको करके मस्तकमें चले जातें हैं फिर योगसिद्धि होजाती है ॥ ६४ ॥

मूल–अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥

भावार्थ–निरंतर मूलबंधमुद्राके करनेसे अपान और प्राणकी एकता और देहम संचितहुये मूत्र और मलका क्षय होताहै तिससे वृद्धभी मनुष्य युवा होजाता है ॥ ६५ ॥

मूल–अपाने ऊर्द्धगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

भाषार्थ–मूलबंधकरनेसे अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुँच जाता है अर्थात् नाभिके अधोभागमें वर्तमान त्रिकोण जठराग्निके मंडलमें प्रविष्ट होजाता है उससमय अपानवायुसे ताडित की हुई जो जठराग्निकी शिखा है वह दीर्घ होजाती है अर्थात् बढजाती है सोई याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, तपाये हुये सुवर्णके समान अग्निका स्थान देहके मनुष्योंके मध्यमें त्रिकोण और पशुओंके देहमें चतुष्कोण है और पक्षियोंके देहमें गोल है यह आपके प्रति मैं सत्य कहता हूं और अग्निके मध्यमें सदैव सूक्ष्म शिखा टिकती है ॥ ६६ ॥

मूल–ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–फिर अग्नि और अपान ये दोनों अग्निकी दीर्घ शिखासे उष्ण-रूप हुये ऊर्द्धगति प्राणमें पहुँच जाते हैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें

---

१ देहमध्येशिखिस्थानंतप्तजाम्बुनदप्रभम् । त्रिकोणंतुमनुष्याणांचतुरस्रं-चतुष्पदाम् ॥ मंडलंतु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमिते । तन्मध्येतुशिखातन्वी-सदातिष्ठतिपावके ॥

उत्पन्नहुई जठराग्नि अत्यंत प्रज्वलित होजाती है अर्थात् अपानकी ऊर्द्ध्वगतिसे दीप्तहुई अग्नि अत्यंत प्रदीप्त होजाती है ॥ ६७ ॥

मूल–तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥६८॥

भाषार्थ–तिस अग्निके अत्यंत दीपनसे भलीप्रकार तपायमान हुई कुंडलिनीशक्ति इसप्रकार भलीप्रकारसे प्रबुद्ध होजाती है और कोमल होजाती है जैसे दंडसे हतीहुई सर्पिणी कोमल होजाती है ॥ ६८ ॥

मूल–बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥६९॥

भाषार्थ–उसके अनंतर बिलमें प्रविष्ट सर्पिणीके समान ब्रह्मनाडी (सुषुम्ना) के मध्यमें कुंडलिनी प्रविष्ट होजाती है तिससे योगाभ्यासियोंको मूलबंध प्रतिदिन करने योग्यहै ॥ ६९ ॥

मूल–कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

भाषार्थ–अब जालंधरबंधको कहते हैं कि, कंठके बिलका संकोच करके वक्षःस्थलके समीपरूप हृदयमें चार अंगुलके अंतरपर चुबुक (ठोडी) को दृढरीतिसे स्थापन करै कंठके आकुंचनपूर्वक चार अंगुलके अंतरपर हृदयके समीपमें नीचेको नमनपूर्वक चुबुकका स्थापनरूप यह जालंधर नामका बंध कहाहै और यह बंध जरा और मृत्युका विनाशक है ॥ ७० ॥

मूल–बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ–अब जालंधरपदके अर्थको कहते हैं कि, जिससे यह बंध शिरा (नाडी) ओंके समूहरूप जालको बाँधताहै और कपालके छिद्र-

रूप नभका जो जल है उसका प्रतिबंध करताहै तिससे यह जालंधर नामका अन्वर्थ बंध जालंधरबंध कहाताहै. क्योंकि जाल नाम समुदाय और जलोंके समूहको कहते हैं और यह जालंधरबंध कंठमें जो दुःखोंका समूह है उसका नाशक है ॥ ७१ ॥

मूल–जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

भाषार्थ–अब जालंधरबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, कंठका संकोच है स्वरूप जिसका ऐसे जालंधरबंधके करनेपर पूर्वोक्त अमृत जठराग्निमें नहीं पडताहै और वायुकाभी कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होताहै ॥ ७२ ॥

मूल–कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ–यह जालंधरबंध दृढतासे कंठके संकोच करनेसेही इडा पिंगला रूप दोनों नाडियोंका स्तंभन करताहै और कंठस्थानमें स्थित इन सोलह[१] आधारोंका बंधन करनेवाला मध्य चक्र (विशुद्धनाम) जानना. अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीविनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लंबिका, नासिका, भृकुटियोंका मध्य मस्तक, मूर्द्धा, ब्रह्मरंध्र योगियोंमें श्रेष्ठोंने ये सोलह आधार कहे हैं इन आधारोंमें धारणाका फलविशेष तो गोरक्षसिद्धांत ग्रंथसे जानना ॥ ७३ ॥

मूल–मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत्
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

---

१ अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीविनीलिंगनाभयः । हृद्ग्रीवाकंठदेशश्चलंबिकानासिकातथा ॥ भ्रूमध्यंचललाटंचमूर्द्धाचब्रह्मरंध्रकम् । एतेहिषोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ।

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त तीनों बंधोंके उपयोगका वर्णन करते हैं कि, मूलस्थानको अर्थात् आधारभूत आधारस्थानका भलीप्रकार संकोच करके नाभिके पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंधको करै और जालंधरबंधसे अर्थात् कंठके संकोचसेही इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंको स्तंभन करै फिर प्राणको पश्चिममार्गमें (सुषुम्नामें) प्राप्त करै ॥ ७४ ॥

मूल–अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–इस पूर्वोक्तविधानसेही प्राणलय (स्थिरता) को प्राप्त हो जाता है गमनकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मरंध्रमें स्थितिही प्राणका लय होताहै उस प्राणके लयसे मृत्यु, जरा, रोग और आदिपदसे वलीपलित तंद्रा आलस्य आदि नहीं होते हैं ॥ ७५ ॥

मूल–बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

भाषार्थ–ये पूर्वोक्त तीनों बंध श्रेष्ठहैं अर्थात् षोडशाधार बंधमें अत्यंत उत्तम हैं और मत्स्येंद्र आदि योगिजन और वसिष्ठ आदि मुनियोंके सेवित हैं और संपूर्ण जो हठयोगके उपाय हैं उनका साधन है यह बात गोरक्ष आदि योगीजन जानते हैं ॥ ७६ ॥

मूल–यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–अब विपरीत करणीके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम उसके उपोद्घातरूप होनेसे पिंडके जराकरणका वर्णन करते हैं कि, दिव्य (सर्वोत्तम) सुधामय है रूप जिसमें ऐसे तालुके मूलमें स्थित चंद्रमासे जो कुछ अमृत झरताहै उस संपूर्ण अमृतको नाभिमें स्थित अग्नि-

रूप सूर्य ग्रस लेताहै सोई गोरक्षनाथने कहा है कि, नाभिके देशमें अग्निरूप सूर्य स्थित है और तालुके मूलमें अमृतरूप चंद्रमा स्थित है अधोमुख होकर चंद्रमा जिस अमृतको वर्षताहै और ऊर्द्धमुख होकर सूर्य उस अमृतको ग्रस लेताहै उसमें वह करण (मुद्रा) करना चाहिये जिससे अमृतकी नष्टता न हो अर्थात् पुष्टिरहै फिर सूर्यके किये उस अमृतके ग्रसनेसे बिंदु (देह) वृद्ध अवस्थासे युक्त होजाताहै ॥ ७७ ॥

मूल–तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

भाषार्थ–उस अमृतकी रक्षा करनेमें जिस सूर्यके मुखकी वंचना होय ऐसे आगे कहनेयोग्य मुद्रारूप करण है और वह करण गुरुके उपदेशसे जानने योग्यहै और कोटियों शास्त्रोंके अर्थसे जाननेको शक्य नहीं है ॥ ७८ ॥

मूल– ऊर्द्धं नाभेरधस्तालोरूर्द्धं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

भाषार्थ–अब विपरीतकरणीमुद्राके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, ऊपरके भागमें है नाभि जिसके और अधोभागमें है तालु जिसके ऐसा जो योगी उसके ऊपरके भागमें तो अग्निरूप सूर्य होजाय और अधो-भागमें अमृतरूप चंद्रमा होजाय और जब ऊर्द्ध नाभिरधस्तालुः यह प्रथमांत पाठहै तब यदा तदा पदोंके अध्याहारसे इसप्रकार अन्वय करना कि, जब ऊपरके भागमें नाभि और नीचेके भागमें तालु जिसके ऐसा योगी होजाय तब ऊपर सूर्य और नीचे चंद्रमा होजाते हैं यह विपरीत (उलटी) नामकी करणी ऊपर और नीचे स्थित जो चंद्रमा सूर्य हैं

---

१ नाभिदेशेस्थितोनित्यंभास्करोदहनात्मकः । अमृतात्मास्थितोनित्यंताlुमूलेचचंद्रमाः । वर्षत्यधोमुखश्चंद्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखोरविः । करणंतच्चकर्तव्यं येनपीयूषमाप्यते ॥

उनके नीचे ऊपर क्रमसे करनेसे अन्वर्थ है अर्थात् विपरीतकरणीका अर्थ तभी घटसकताहै जब पूर्वोक्त मुद्रा कीजाय और यह विपरीतकरणी गुरुके वाक्यसे मिलसक्ती है अन्यथा नहीं ॥ ७९ ॥

मूल–नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

भाषार्थ–प्रतिदिनके अभ्यासम युक्त जो योगी है उसकी जठराग्निको यह विपरीतकरणी बढाती है और इसीसे उस विपरीतकरणीके अभ्यासी योगीको यथेच्छ अधिक भोजन संपादन करनेयोग्य है अर्थात् अल्पभोजन न करै ॥ ८० ॥

मूल–अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥

भाषार्थ–क्योंकि, यदि विपरीतकरणीका अभ्यासी योगी अल्पाहारी हो अर्थात् अल्पभोजन कियाजाताहै तो जठराग्नि उसी क्षणमात्रमें देहको भस्म करदेती है अब ऊपर नीचे स्थित चंद्रमा सूर्यके नीचे ऊपर करनेकी क्रियाको कहते हैं कि, प्रथम दिनमें क्षणभर नीचेको शिर करै अर्थात् भुजा दोनों स्कंध गल और शिर पृष्ठभाग (पीठ) से भूमिका स्पर्श करके नीचे शिर किये स्थितहो और ऊपरको पाद करै अर्थात् प्रारंभके दिन क्षणमात्र इसप्रकार स्थित रहै ॥ ८१ ॥

मूल–क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ८२

भाषार्थ–फिर प्रतिदिन क्षणसे कुछ २ अधिक अभ्यास करै अर्थात् दोक्षण, तीनक्षण, काल एक २ दिनकी वृद्धिसे अभ्यासको बढाता रहै. अब विपरीतकरणीके गुणोंको कहते हैं कि, पूर्वोक्तप्रकारके करनेसे

वलीपलित छः मासके अनंतर नहीं दीखते हैं अर्थात् यौवनअवस्था हो जाती है और जो साधक प्रतिदिन प्रहरमात्र अभ्यास करता है वह मृत्युको जीतताहै. इससे यहभी सूचित किया कि, योग प्रारब्धकर्मकाभी प्रतिबंधक है सोई विष्णुधर्ममें कहा है कि, अपने देहके आरंभककर्मकाभी नाशक जो योगहै[1] हे पृथ्वीपाल उस योगको तू सुन और विद्यारण्यने जीवन्मुक्तिग्रंथमें यह कहा है कि, तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्म जैसे प्रबल है ऐसेही प्रारब्धकर्मसे योगाभ्यास प्रबल है इसीसे उद्दालक वीतहव्य आदि योगियोंने अपनी इच्छासे देहका त्याग किया. भागवतमेंभी लिखा[2] है कि, समाधिसे देहको त्यागै ॥ ८२ ॥

अथ वज्रोली ।

मूल–स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥८३॥

भाषार्थ–वज्रोलीमुद्रिका प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वज्रोलीके फलका वर्णन करते हैं कि, जो योगाभ्यासी वज्रोलीमुद्राको अपने अनुभवसे जानता है वह योगी योगशास्त्रमें कहेहुये नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करताहुआभी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंके विनाभी उसको सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

मूल–तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–अब वज्रोलीमुद्राके साधक दो वस्तुओंका वर्णन करते हैं कि, उस वज्रोलीकी सिद्धिमें जिसकिसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहताहूं उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशवर्तिनी

---

१ स्वदेहारंभकस्यापिकर्मणःसंक्षयावहः । योयोगः पृथिवीपालशृणुतस्यापि लक्षणम् । २ देहंजह्यात्समाधिना ।

नारी है अर्थात मैथुनके अनंतर निर्बल हुई इंद्रियोंकी प्रबलताके लिये दूधका पान योग्य है और कोई यह कहते हैं कि, अभ्यासकालमें आकर्षणके लिये दूधका पान उत्तम है सो ठीक नहीं, क्योंकि अंतगर्त हुए दूधका आकर्षण नहीं हो सकता है ॥ ८४ ॥

मूल–मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥

भाषार्थ–अब वज्रोलीमुद्राके प्रकारका वर्णन करते हैं कि, पुरुष अथवा स्त्री मेहन (बिंदुका झरना) से शनैः २ भलीप्रकार यत्नसे ऊपरको आकुंचन (संकोच) का अभ्यास करे अर्थात लिंग इंद्रियके आकुंचनसे बिंदुके ऊपर खींचनेका अभ्यास करे तो वज्रोलीमुद्रा सिद्धिको प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

मूल–यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–अब वज्रोलीमुद्राकी पूर्वांग क्रियाका वर्णन करते हैं कि,सीसे आदिकी उत्तमनालीसे शनैः २ इसप्रकार लिंगके छिद्रमें वायुके संचार (भलीप्रकार प्रवेश) के लिये यत्नसे फूत्कारको करै. जैसे अग्निके प्रज्वलनार्थ फूत्कारको करते हैं अब वज्रोलीकी साधकप्रक्रियाको कहते हैं कि, सीसेसे बनीहुयी लिंगमें प्रवेशके योग्य चौदह अंगुलकी शलाई बनवाकर उसके लिंगमें प्रवेशका अभ्यास करै पहिलेदिन एक अंगुलमात्र प्रवेश करै दूसरे दिन दो अंगुल मात्र और तीसरे दिन तीन अंगुलमात्र प्रवेश करै इसप्रकार क्रमसे वृद्धि करनेपर बारह अंगुल शलाकाके प्रवेश होनेके अनंतर लिंगका मार्ग शुद्ध होजाताहै फिर उसीप्रकारकी और चौदह अंगुलकी, ऐसी शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढी हो और ऊर्द्धमुखी हो उसकोभी बारह अंगुल भर लिंगके छिद्रमें प्रवेश करै टेढा और ऊर्द्ध मुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सुनारके अग्नि

धमनेके नालकी सदृश नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये बारह अंगुलके नालका टेढा और ऊर्द्धमुख दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार करै तिससे भलीप्रकार लिंगके मार्गकी शुद्धि होती है फिर लिंगसे जलके आकर्षणका अभ्यास करै जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर पूर्वोक्तश्लोकमें कहीहुई रीतिके अनुसार बिंदुके ऊपरको आकर्षणका अभ्यास करै बिंदुके ऊर्द्ध आकर्षणकी सिद्धि होनेपर वज्रोली-मुद्राकी सिद्धि होती है यह मुद्रा उस योगीकोही सिद्ध होती है जिसने प्राणवायुको जीत लियाहै अन्यको नहीं होती है और खेचरीमुद्रा और प्राणका जय होनेपर तो भलीप्रकार सिद्ध होती है । भावार्थ यह है कि, लिंगके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तमनालसे शनैः २ यत्न पूर्वक फूत्कारको करै ॥ ८६ ॥

मूल–नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–अब वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके अनंतरका जो साधन है उसका वर्णन करते हैं कि, नारीके भग (योनि) में पडतेहुये बिंदु (वीर्य) का अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करै अर्थात् पडनेसे पूर्वही ऊपरको खींचलें यदि पतनसे पूर्व बिंदुका आकर्षण नहोसकै तो पतितहुये बिंदुक आकर्षण करैं कि चलितहुआ अपना बिंदु और चकारसे स्त्रीका रज इन की ऊपरको आकर्षण करके रक्षा करै अर्थात् मस्तकरूप जो वीर्यका स्थान है उसमें स्थापन करै ॥ ८७ ॥

मूल–एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥

भाषार्थ–अब वज्रोलीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, इसप्रकार जो योगी बिंदुकी भलीप्रकार रक्षा करता है योगका ज्ञाता वह योगी मृत्युको

जीतता है क्योंकि,बिंदुके पडनेसे मरण और बिंदुकी रक्षासे जीवन होताहै तिससे बिंदुकी रक्षा करै ॥ ८८ ॥

मूल–सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥

भाषार्थ–वज्रोलीके अभ्यासकर्ता योगीके देहमें बिंदुके धारण करनेसे सुगंध होजाती है और देहमें इतने बिंदु स्थिर हैं तबतक कालका भय कहां अर्थात् कालका भय नहीं रहता है ॥ ८९ ॥

मूल–चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

भाषार्थ–जिससे मनुष्योंका शुक्र (वीर्य) चित्तके आधीन है अर्थात् चित्तके चलायमान होनेपर, चलायमान और चित्तके स्थिर होनेपर स्थिर होजाताहै इससे चित्तके वशीभूत है और मनुष्योंका जीवन शुक्रके आधीन है अर्थात् शुक्रकी स्थिरतासे जीवन और शुक्रकी नष्टतासे मरण होताहै इससे जीवन शुक्रके आधीन है तिससे शुक्र (बिंदु) और मनकी भलीप्रकार यत्नसे रक्षा करै ॥ ९० ॥

मूल–ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

भाषार्थ–ऋतु हुआ है जिसके ऐसी स्त्रीके रज (वीर्य) की और अपने बिंदुकीभी इसी पूर्वोक्त अभ्याससे रक्षा करै अर्थात् ऋतुस्नानके अनंतर रज और वीर्य दोनोंकी रक्षा करै। पूर्वोक्त अभ्यासकोही दिखाते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यासरूप योगका ज्ञाता योगी लिंग इंद्रियसे रज और बिंदुका भलीप्रकार ऊपरको आकर्षण करै (खींचे) यह श्लोक क्षेपक है अर्थात् मूलका नहीं है ॥ ९१ ॥

मूल--सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

भाषार्थ–अब सहजोली और अमरोली मुद्राओंका वर्णन करते हैं कि, वज्रोलीमुद्राका भेदविशेषही सहजोळी और अमरोली हैं, क्योंकि तीनों-का फल एक है उन दोनों में सहजोलिमुद्राका वर्णन करते हैं कि, दग्ध किये हुये गोमयोंका जो सुंदर भस्म है उसको जलमें डालकर अर्थात् जल-मिश्रित उस भस्मको करै ॥ ९२ ॥

मूल–वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोःक्षणात् ॥९३॥

भाषार्थ–वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके लिये कियेहुये मैथुनके अनंतर आनं-दसे बैठेहुये और उत्साहसे त्याग दियाहै रतिका व्यापार जिन्होंने ऐसे स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वोक्त भस्मको अपने मस्तक,शिर,नेत्र, हृदय, स्कंद, भुजा आदि अंगोंपर लेपन करै ॥ ९३ ॥

मूल–सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः॥९४॥

भाषार्थ–यह पूर्वोक्त भस्मलेपनरूप क्रिया मत्स्येंद्र आदि योगी-जनोंने सहजोलिमुद्रा कहा है और यह योगीजनोंको सदैव श्रद्धाकरने-योग्य है यह सहजोलि नामका योग (उपाय) शुभकारी जानना और भोगसे युक्त भी यह योग मोक्षका दाताहै ॥ ९४ ॥

मूल--अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम्॥९५॥

भाषार्थ–और यह जो सहजोलिरूप योग पुण्यवान् और धीर और तत्व (ब्रह्म) के जो द्रष्टा हैं और अन्यके गुणोंमें द्वेषरहितरूप जो निर्मत्सर हैं ऐसे पुरुषोंकोही सिद्ध होताहै और जो मत्सरी है अन्यके गुणोंमें द्वेष (वैर) के कर्ता हैं उनको सिद्ध नहीं होताहै ॥ ९५ ॥

अथामरोली।

मूल--पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयां-त्यधारा॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली॥ ९६॥

भाषार्थ–अब अमरोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पित्त है उल्बण (अधिक) जिसमें ऐसी जो प्रथम शिवांबु (बिंदु) की धारा है उसको और नहीं है सार अंश जिसमें ऐसी जो अंत्यधारा है उसको छोडकर अर्थात् पहली और पीछली धारोंको किंचित् २ त्यागकर पित्त आदि दोष और सारतासे रहित शीतल मध्यधाराका जिस रीतिसे नित्य सेवन (पान) कियाजाय वह क्रिया योगविशेष जो खंड उसके माननेवाले कापालिक मतमें अर्थात् खंडकापालिक मतम अमरोली नामकी मुद्रा प्रसिद्ध है॥ ९६॥

मूल--अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने॥ वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते॥ ९७॥

भाषार्थ–जो पुरुष शिवांबुरूप अमरीको नासिकासे नित्य पीता है अर्थात् नासिकाके छिद्रद्वारा अमरीको अंतर्गत करताहै और मैथुनसे प्रति-दिन वज्रोलीका भलीप्रकार अभ्यास करताहै उस मुद्राको कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिकाके छिद्रसे पानकी अमरी वज्रोलीके अनंतर अमरोली कहाती है॥ ९७॥

मूल--अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत॥ धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥ ९८॥

भाषार्थ–अमरोलीमुद्राके अभ्याससे निकसी जो चंद्रमाकी सुधा (अमृत) है उसको विभूति (भस्म) के संग मिलाकर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ, हृदय भुजा आदि उत्तम अंगोंमें धारण करै तो मनुष्य दिव्यदृष्टि होजाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो

पदार्थ उनके देखनेयोग्य दृष्टि होजातीहै और अमरीसेवनके विशेष भेद तो शिवांबुकल्पग्रंथसे जानने ॥ ९८ ॥

मूल--पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९९॥

भाषार्थ–पुरुषको वज्रोलीके साधनको कहकर नारीकी वज्रोलीके साधनको वर्णन करते हैं कि, भलीप्रकारसे कियेहुये अभ्यासकी चतुरतासे पुरुषके बिंदुका भलीप्रकार आकर्षण करके यदि नारी वज्रोली-मुद्रासे अपने रजकी रक्षा करै तो वह भी योगिनी जाननी (पुंसो बिंदु समायुक्त) यह पाठ होय तो यह अर्थ समझना कि, पुरुषकी बिंदुसे युक्त अपने रजकी रक्षा करै तो वह नारी योगिनी होती है ॥ ९९ ॥

मूल- तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥१००॥

भाषार्थ–अब नारीकी कीहुई वज्रोलीके फलको कहते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यास करनेमें शीलवती उस नारीका किंचित् भी रज नष्ट नहीं होताहै अर्थात् अपने स्थानसे पतित नहीं होता इसमें संशय नहीं है और उस नारीके शरीरमें नादभी बिंदुरूपको प्राप्त हो जाताहै अर्थात् मूलाधारसे उठाहुआ नाद हृदयके ऊपर बिंदुके संग एक होजाताहै अमृतसिद्धिग्रंथमें लिखाहै[१] कि पुरुषके वीर्यको बीज और नारीके वीर्यको रज कहते हैं इन दोनोंका देहसे बाहर योग होनेसे मनुष्योंके संतान होती है यदि दोनोंका भीतरही योग होजाय तो वह योगी कहा जाताहै उन दोनोंमें बिंदु चंद्रमय है और रज सूर्यमय है इन दोनोंके संगमसे परम पद होताहै और यह बिंदु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म और अधर्मका दाताहै उस बिंदुके मध्यमें सूक्ष्मरूपसे संपूर्णदेवता टिकते हैं ॥ १०० ॥

---

१ बीजंचपौरुषंप्रोक्तं रजश्चस्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेनसृष्टिः संजायतेनृणाम् ॥ यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदायोगीतिगीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो-रजः सूर्यमयंतथा ॥ अनयोःसंगमादेवजायतेपरमंपदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोधर्मदस्तथा । तन्मध्ये देवता सर्वास्तिष्ठन्ति सूक्ष्मरूपतः ।

मूल--स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १ ॥

भाषार्थ–पुरुषका वह बिंदु और नारीका वह रज दोनों एक होकर वज्रोलीमुद्राके अभ्यासयोगसे यदि अपने देहहीमें स्थित रहजाय तो संपूर्ण सिद्धियोंको देतेहैं ॥ १ ॥

मूल--रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ–जो नारी अपनी योनिके संकोचसे रजको ऊर्ध्वस्थानमें लेजाकर रजकी रक्षा करै वह योगिनी होती है और भूत,भविष्यत्, वर्तमान वस्तुको जानसकती है और यह निश्चित है कि वह खेचरी होती है अर्थात् उसको आकाशमें गमन करनेका सामर्थ्य होजाताहै ॥ २ ॥

मूल–देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

भाषार्थ–और वज्रोलीके अभ्यासयोगसे रूप, लावण्य वज्रोकी तुल्यतारूप देहकी सिद्धिको प्राप्त होतीहै और यह वज्रोलीके अभ्यासका योग पुण्यका उत्पादक है और भोगोंके भोगनेपरभी मुक्तिको देताहै ॥ ३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

मूल–कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ–शक्तिचालनमुद्रा कहनेका अभिलाषी आचार्य कुंडलिनीके पर्याय और कुंडलिनीसे मोक्षद्वारविभेदन (खोलना) आदिका वर्णन करते हैं कि, कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्ति ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६

अरुंधती ७ ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् सातोंका एकही अर्थ है ॥ ४ ॥

मूल–उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ–जैसे पुरुष कपाटों (किँवाड) के अर्गल (ताला) आदिको हठ (बल) से कुंचिका (ताली) से उद्घाटन करता है, तिसीप्रकार योगीभी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनीमुद्राकेद्वारा अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करताहै क्योंकि इसेश्रुतिमें लिखाहै कि, सुषुम्ना मार्गसे ऊपर (ब्रह्मलोक)को जाताहुआ मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ ५ ॥

मूल–येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ६ ॥

भाषार्थ–रोगसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप आमय जिसमें नहीं है ऐसा ब्रह्मस्थान जिसमार्गसे जाने योग्य होताहै अर्थात् जिसमार्गसे ब्रह्मस्थानको जाते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, उस सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है उस सुषुम्ना मार्गके द्वारको मुखसे आच्छादन करके अर्थात् रोककर परमेश्वरी (कुंडलिनी) सोती है ॥ ६ ॥

मूल–कंदोर्ध्वे कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥७॥

भाषार्थ–कंदके ऊपरभागमें सोती हुई कुंडलिनी योगीजनोंके मोक्षार्थ होती है और वह पूर्वोक्त कुंडलिनी मूढोंके बंधनार्थ होती है अर्थात् योगीजन कुंडलिनीको चलाकर मुक्त होजाते हैं और उसके अज्ञानी मूढ बंधनमें पडे रहते हैं उस कुंडलिनीको जो जानताहै वही योगका ज्ञाता है क्योंकि संपूर्ण योगके तंत्र कुंडलिनीके आधीन हैं ॥ ७ ॥

---

१ तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति। २ तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।

मूल--कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥८॥

भाषार्थ–योगीजनोंने जो सूर्यके समान कुटिल है आकार जिसका ऐसी कहीहै वह कुंडली शक्ति जिसने चलादी है अर्थात् मूलाधारसे ऊपर पहुँचादी है वह मुक्तहै अर्थात बंधनसे निवृत्तहै इसमें संशय नहींहै क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति है कि, उस सुषुम्नासे ऊपरको जाता हुआ योगी मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ ८ ॥

मूल–गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडातपस्विनी ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ–गंगा यमुना है आधार जिनके वा गंगा यमुनारूप जो इडा पिंगला नाडी हैं उनके मध्यमें अर्थात सुषुम्नाके मार्गमें तपस्विनी अर्थात् भोजनरहित बालरंडाहै उसको बलात्कार (हठयोग) से ग्रहण करे वह उस कुंडलीका जो बलात्कारसे ग्रहण है वही व्यापकरूप विष्णुके परमपदका प्रापक है ॥ ९ ॥

मूल–इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

भाषार्थ–अब गंगा यमुना आदि पदार्थोंका वर्णन करते हैं कि, इडा अर्थात वामनिःश्वासकी नाडी भगवती गंगा कहाती है और पिंगलाके अर्थात् दक्षिणनिःश्वासकी नाडी यमुना नदी कहाती है और इडा और पिंगलाके मध्यमें वर्तमान जो कुंडली है वह बालरंडा कहाती है ११० ॥

मूल–पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्॥११॥

भाषार्थ–अब शक्तिचालनमुद्राका वर्णन करते हैं कि सोतीहुई भुजगी (कुंडली) के पुच्छको ग्रहण करके उसभुजगीका प्रबोधन करे

(जगावे) तो वह कुंडलीनिद्राको त्यागकर हठसे ऊपरको स्थित हो-जाती है इसका रहस्य (गुप्तक्रिया) तो गुरुमुखसे जानने योग्य है॥ ११॥

मूल–अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरा धंमात्रम् ॥ प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ १२ ॥

भाषार्थ–नीचे मूलाधारमें स्थित वह फणावती कुंडलिनी सूर्यसे पूरण करनेके अनंतर परिधानमें जो युक्ति है उससे ग्रहण करके सायंकाल और प्रातःकालके समय प्रतिदिन आधे प्रहर पर्यंत चारों तर्फ चालन करने योग्यहै परिधानकी युक्ति गुरुमुखसे जाननी ॥ १२ ॥

मूल–ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥ मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ–कंदके पीडनसे शक्तिचालनके कथनाभिलाषी आचार्य प्रथम कंदके स्थान और स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, मूलस्थानसे वितस्तिभर ऊपर अर्थात् नाभिस्थान और लिंगके मध्यमें इसवर्णनसे कंदका स्थान कहा सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि लिंगसे ऊपर और नाभिसे नीचे पक्षि-योंके अंडेके समान कंदकी योनि है उसमें बहत्तर सहस्र नाडी उत्पन्नहुई हैं. याज्ञवल्क्यने कहाहै कि,गुदासे दो अंगुल ऊपर लिंगसे दो अंगुल नीचे मनु-ष्योंके देह (तनु) का मध्य कहा है मनुष्योंका कंदस्थान देहके मध्यसे नौ अंगुल ऊपर चार अंगुल चौडा और चार अंगुल लंबाहै और त्वचा आदिसे अंडाकारके समान शोभित है और चतुष्पद और तिरछी योनियोंके और पक्षियोंके तुंद मध्यमें होताहै अर्थात गुदाके दो अंगुलोंसे ऊपर एक अंगु-

---

ऊर्ध्वमेढ्रादधोनाभेःकंदयोनिः खगांडवत् । तत्रनाड्यः समुत्पन्नाः सह-स्राणां द्विसप्ततिः। २ गुदात्तुद्व्यंगुलादूर्ध्वमेढ्रात्तुद्व्यंगुलादधः। देहमध्यंतनो-र्मध्यं मनुजानामितीरितम् ॥ कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् ॥ चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम्॥ अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगा-दिभिः ॥ चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुदमध्यगम्

लका मध्य और उससे नौ अंगुल कंदस्थान हुआ. ये सब मिलकर बारह अंगुलकाहै प्रमाण जिसका ऐसा वितस्तिमात्र हुआ और वह कंदस्थान चार अंगुल और कोमल और धवल और वेष्टित (लंपटे) किये वस्त्रके समान है रूप जिसका ऐसा योगीजनोंने कहाहै।भावार्थ यह है कि, मूल-स्थानसे ऊपर वितस्तिमात्र चार अंगुलभर कोमल शुक्ल लंपटे हुये वस्त्रके समान कंदस्थान योगीजनोंने कहाहै ॥ १३ ॥

मूल–सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ १४ ॥

भाषार्थ–वज्रासन करनेके अनंतर हाथोंसे गुल्फोंके समीपके स्थानमें दोनों चरणोंको दृढतासे धारण करै अर्थात गुल्फोंके कुछेक ऊपरके भागमें चरणोंको हाथोंसे खूब पकडै और हाथोंसे पकडे हुये पादोंसे कंदके स्थानमें कंदको पीडित करै अर्थात् गुल्फसे ऊपर पादोंको हाथोंसे पकडकर नाभिके अधोभागमें कंदको पीडित करै (दाबै) ॥ १४ ॥

मूल–वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ–वज्रासनमें स्थित (बैठाहुआ) योगी कुंडलीको चलाकर अर्थात् शक्तिचालनमुद्राको करके उसके अनंतर अर्थात शक्तिचालनके पीछे भस्त्रानामके कुंभकप्राणायामको करै. इसरीतिसे कुंडलीका शीघ्र प्रबोधनकर यद्यपि वज्रासनमें शक्तिका चालन पहिले कह आयेहैं फिर जो वज्रासनका कथन है वह इसनियमके लियेहै कि, शक्तिचालनके अनं-तर भस्त्रामें वज्रासनही करना, अन्य नहीं ॥ १५ ॥

मूल–भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १६ ॥

भाषार्थ–नाभिदेशमें स्थित सूर्यका आकुंचन करै और वह सूर्यका आकुंचन नाभिके आकुंचनसेही होताहै, फिर सूर्यके आकुंचनसे कुंडली

शक्तिका चालन करे. जो योगी इसप्रकारकी क्रियाको करताहै मृत्युके मुखमें गये हुयेभी उसयोगीको क्या कालका भय किसप्रकार हो सकताहै अर्थात् मृत्युका भय नहीं रहता ॥ १६ ॥

मूल–मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ १७॥

भावार्थ–दो मुहूर्त अर्थात् चार घडी पर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुंडली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खेंच जाती है ॥ १७ ॥

मूल–तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥१८॥

भावार्थ–तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देती है तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुंडलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ १८ ॥

मूल–तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥

भावार्थ–जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोईहुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करे क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥१९ ॥

मूल–येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

भावार्थ–जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा-

आदि सिद्धियोंका पात्र (ज्ञाता) होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

मूल–ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥२१॥

भाषार्थ–श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४४ दिन) के अनंतर प्राणायामकी सिद्धिको देखते हैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घटिका (कंठ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्नि ये वशमें हुई उसकुंडलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यंत नवीन करताहै जैसे छेदन करनेसे वृक्षका स्कंद (डाला) नवीन होजाता है ॥ २१ ॥

मूल–कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ २२॥

भाषार्थ-कुंडलीको चलायमान करके उसके अनंतरही विशेषकर भस्त्रानामके कुंभकप्राणायामको करै. इसप्रकार प्रतिदिन अभ्यास करता-हुआ जो यमी (योगी) है उसको यमका भय कहां रहताहै, क्योंकि योगीके देहका त्याग अपने आधीन होताहै ॥ २२ ॥

मूल–द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ २३ ॥

---

१ नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोतिदीर्घीकृतश्चंद्रावे परिपूरितामृत-तनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ।

भाषार्थ–बहत्तर सहस्र नाडियोंकी मलशुद्धिके करनेमें शक्तिचालनके विना प्रक्षालन (धोना) का अन्य कौन उपाय है अर्थात् कोई नहीं है. शक्तिचालनमुद्राके करनेसेही संपूर्ण नाडियोंके मलकी शुद्धि होती है ॥ २३ ॥

मूल–इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ २४ ॥

भाषार्थ–यह सुषुम्नारूप मध्यमनाडी योगियोंके दृढअभ्याससे स्वस्तिक आदि आसन प्राणायाम और महामुद्रा इनके करनेसे सरल होजाती है ॥ २४ ॥

मूल–अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति॥२५॥

भाषार्थ–अन्यविषयोंसे वृत्तिके रोकनेसे चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिसे मनको धारणामें स्थित करके अभ्यास करनेमें जो निद्रा और आलस्यसे रहित हैं उनको शांभवीमुद्रा वा अन्यउन्मनी आदि मुद्रा शोभन योगसिद्धिको देती है इससे यह कहा कि, हठयोग राजयोगका उपकारक है ॥ २५ ॥

मूल–राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ २६ ॥

भाषार्थ–अब राजयोगके विना आसन आदिकी निष्फलताको उपचारसे वर्णन करते हैं कि, अन्यवृत्तियोंको रोककर आत्मविषयक जो धारावाहिक निर्विकल्प मनकी वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और वह राजयोग, हठके विना राजयोग वृथा है, इस वचनमें सूचित कर आये हैं उस राजयोगके वा उसके साधनोंके विना पृथ्वी (स्थिरता) शोभित नहीं

---

१ हठंविना राज्ययोगः ।

होतीहै यहां पृथ्वीशब्दसे स्थिरता और राजयोगपदसे आसन लेना अर्थात् राजयोगके विना परमपुरुषार्थ (मोक्ष) रूप मोक्ष नहीं होसकता. यह हेतु आगेभी सम्पूर्ण वाक्योंमें समझना और राजयोगके विना निशा शोभित नहीं होती अर्थात् निशाके समान कुंभकप्राणायाम शोभित नहीं होता है, क्योंकि जैसे निशामें राजपुरुषोंका संचार नहीं होताहै इसीप्रकार कुंभकमें प्राणोंका संचार नहीं होताहै इससे निशापदसे कुंभक लेते हैं और राजयोगके विना विचित्र भी मुद्रा अर्थात् अनेक प्रकारकी वा विलक्षण महामुद्रा आदि मुद्रा शोभित नहीं होती है पक्षांतरमें इसश्लोकका यह अर्थ है कि, राजाके संबंध विना रत्न आदिके उत्पन्न करनेवालीभी पृथ्वीकी शोभा नहीं है क्योंकि राजाको शिक्षाके विना नानाउपद्रव भूमिमें होते हैं और राजा (चंद्रमा) के संबंध विना ग्रहनक्षत्रोंसे विचित्रभी निशाकी शोभा नहीं होती है इस[1] श्रुतिसे यहां राजपदसे चंद्रमा लेते हैं कि, सोम हम ब्राह्मणोंका राजाहै और राजाके योगविना मुद्राकी शोभा नहीं अर्थात् रेखा आदिसे विचित्रभी मुद्रा राजाके हाथसे किये हुये चिह्नविशेषरूप राजसंबंधके विना ग्रहण करने योग्य नहीं होती है ॥ २६ ॥

मूल-मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ २७ ॥

भाषार्थ-प्राणवायुकी जो कुंभकमुद्रा आदि संपर्ण विधि है उसका मनसे युक्त होकर (मन लगाकर) भलीप्रकार अभ्यास करे और प्राणवायुकी विधिसे अन्य जो विषय उनमें मनकी प्रवृत्तिको न करै ॥ २७ ॥

मूल-इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ २८ ॥

भाषार्थ--अब मुद्राओंकी समाप्तिका वर्णन करते हैं कि,आदिनाथ,(महादेव) ने ये दश मुद्रा कही हैं उन मुद्राओंमें एक २ भी मुद्रा (प्रत्येक)

---

१ सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।

अर्थात् जो कोई मुद्रा योगीजनोंको अणिमा आदि महासिद्धियोंकी प्रदायिनी (देनेवाली) है ॥ २८ ॥

मूल--उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥२९॥

भाषार्थ–सांप्रदायिक (योगियोंका गुरुपरम्परासे चले आये) महा-मुद्रा आदिके उपदेशको जो पुरुष देताहै वही श्रीमान् गुरु अर्थात् सब गुरुओंमें श्रेष्ठहै और वही स्वामी अर्थात् प्रभुहै और वही साक्षात् परमेश्वर-स्वरूप है ॥ २९ ॥

मूल -तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिका-यां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ–तिस मुद्राओंके उपदेश कर्ता गुरुके वाक्यमें अथात् आसन कुंभक आदिके अनुष्ठान विषयकी और युक्ताहार विहारकी चेष्टा आदि विषयोंकी आज्ञामें तत्पर (आदरवान्) और शास्त्रोक्त तपकरनेरूप उस आदरके अनंतर एकवार महामुद्रा आदिका जो वारंवार महामुद्रा आदिके अभ्यासमें सावधान होकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियों सहित कालके वंचनको प्राप्त होता है अर्थात् उसको सिद्धि और कालसे निर्भयता ये दोनों प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां पं० मिहरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः समाप्तः ॥ ३ ॥

॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका ।

भाषाटीकासमेता ।



अथ चतुर्थोपदेशः ४.

मूल—नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ॥
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥

भाषार्थ—प्रथम, द्वितीय, तृतीय उपदेशोंमें कहे जो आसन कुंभक मुद्राहै उनका फलरूप जो राजयोग है उसके कथनका अभिलाषी स्वात्माराम ग्रंथकार श्रेयकर्मोंमें बहुत विघ्न हुआ करते हैं इस न्यायसे अनेक विघ्नों का संभव होसकताहै उन विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये शिवरूप गुरुके नमस्कारात्मक मंगलको करते हैं कि, शिवरूप अर्थात सुखरूप वा ईश्वररूप सोई कहाहै कि, हे नाथ ! हे भगवन्! शिवरूप गुरु जो आप हैं उनको नमस्कारहै गुरुको अथवा सबकेउपदेशक अंतर्यामिरूपसे शिवरूपसे ईश्वरको सोई पातंजल सूत्रमें कहाहै कि, कालसे अवच्छेद (भेद) के न होनेसे वह ईश्वर पहिले सब आचार्योंकाभी गुरु है उस गुरु वा ईश्वरको नमस्कार है. जो गुरु नादबिंदु कलारूपहै कासीके घंटाके समान जो अनुरणन अर्थात शब्द उसको नाद कहते हैं और अनुस्वारके अनंतर जो ध्वनि होतीहै उसको बिंदुकहते हैं और नादके एकदेशको कला कहते हैं ये तीनों जिस गुरु वा ईश्वरके रूप हैं अर्थात जो नाद बिंदु कलारूपसे वर्तमान है और जिस जिस नाद बिंदु कलारूप शिवरूप गुरुमें प्रतिदिन परायण (सावधान) मनुष्य इस कथनसे नादके अनुसंधानमें परायण और पूर्व पादसे

---

१ नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे । २ स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात ।

शिव और गुरुका भेद सूचित किया उस मायोपाधिरूप अंजनसे रहित शुद्ध ब्रह्मपदको प्राप्त होताहै जिसको योगीजन प्राप्त होते हैं उसको पद कहते हैं सोई कहेंगे नादका जो अनुसंधानी और जो समाधिका ज्ञाताहै वह योगी है–भावार्थ यह है कि, शिवरूप और नाद बिंदुकला जिसकी आत्माहै ऐसे उस गुरुको नमस्कारहै जिसमें प्रतिदिन तत्पर मनुष्य शुद्धरूप ब्रह्मपदको प्राप्त होताहै ॥ १ ॥

मूल–अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

भाषार्थ–अब आचार्य समाधिका जो क्रम उसके वर्णनको प्रतिज्ञा करते हैं कि, इसके अनंतर अर्थात् आसन कुंभकमुद्रा वर्णन करनेके अनंतर इदानीं (इस अवसरमें) प्रत्याहार आदिरूप उस समाधिके क्रमको प्रकर्षतासे (पृथक्) कहता हूं जो समाधिका क्रम आदिनाथकी कहीहुई संपादन कोटिरूप समाधियोंके प्रकारों(भेदों) में उत्तम है और जो मृत्युका निवारण कर्ता है अर्थात् अपनी इच्छासे देहके त्यागका जनक है और जो उत्पत्ति मनका नाश वासनाका क्षय इन तीनोंके होनेपर जीवन्मुक्तिरूप सुखका उपाय (साधन) है और जो परमब्रह्मानंदका कर्ता है अर्थात् प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेपर जीव ब्रह्मको अभेदका ज्ञान होनेसे आत्यंतिक ब्रह्मानंदकी प्राप्तिरूप जो मुक्ति उसको करताहै । वहां प्रथम समाधिसे चित्तका निरोध होताहै और संस्कारसहित संपूर्णवृत्तियोंका निरोध होनेपर शांत घोर मूढ अवस्थाओंकी निवृत्ति होतसंते इत्यादि श्रुतियोंमें हीहुई कि, जीवताहुआही ज्ञानी हर्षशोकसे छुट जाताहै निर्विकार स्वरूपम स्थितिरूप जिवन्मुक्ति होजातीहै और परममुक्ति तो यह है कि, प्राप्त हुये भोगके अंतमें अंतःकरणके गुणोंका प्रतिप्रसव होनेसे औपाधिकरूपकी अत्यंत निवृत्ति होनेपर आत्यंतिक स्वरूपमें अवस्थान प्रतिप्रसवसे सिद्ध है और

---

१ नादानुसंधानसमाधिभाजम् । २ जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते ।

व्युत्थान निरोध समाधि संस्कार ये सब मनमें लीन होजाते हैं और मन अस्मितामें अस्मिता महान्में महान् प्रधानमें लीन होजाताहै. इसप्रकार चित्तके गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात् अपने २ कारणमें लयरूप प्रतिसर्ग होता है. कदाचित् कोई शंका करै कि,समाधिसे व्युत्थान (उठना) के समय मैं ब्राह्मण हूं मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहारके देखनेसे चित्त आदिसे औपाधिक भावके पैदाहोनेसे अम्लसे दूधके समान अपने ब्रह्मस्वरूपसे च्युति (पतन) होजायगा–सो ठीक नहीं है क्योंकि संप्रज्ञात समाधिमें अनुभूत (ज्ञात) जो आत्मसंस्कार उसके तात्त्विकत्व (यथार्थता) का निश्चय होजाताहै और अतात्विक जो अन्यथाभाव है वह अधिकारित्वका प्रयोजक नहीं होताहै– अम्लसे जो दूधका दधिभावहै वह तात्विक है इससे दृष्टांतभी विषम है–मनुष्यको तो अंतःकरणरूप उपाधिसे मैं ब्राह्मणहूं इत्यादि व्यवहार होता है– और वह स्फटिकको जपाकुसुमकी संनिधानरूप उपाधिके समानहीहै तात्विक नहीं है–जपाकुसुमके हठानेपर स्फटिककी अपने स्वरूपमें स्थितिके समान अंतःकरणकी संपूर्ण वृत्तियोंके निरोध होनेपर अपने स्वरूपमें स्थिति नष्ट नहीं होतीहै अर्थात् जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें मनुष्य ब्रह्मरूपमें स्थित रहता है–भावार्थ यह है कि, इसके अनंतर उत्तम मृत्युके नाशक–सुखका उपाय और परमब्रह्मानंदका जनक जो समाधिका क्रम उसको मैं अब वर्णन करता हूं ॥ २ ॥

मूल–राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ–अब समाधिके पर्यायोंका वर्णन करते हैं कि,राजयोग–समाधि–उन्मनी–मनोन्मनी–अमरत्व–लय–शून्याशून्यपरंपद–अमनस्क–अद्वैत–निरालंब–निरंजन–जीवन्मुक्ति–सहजा–तुर्या–ये सब एक समाधिकेही वाचक हैं–इन सब भेदोंका आगे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥ ४ ॥

मूल—सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

भाषार्थ—जिसप्रकार सिंधुदेशमें उत्पन्न हुआ लवण जलकेविषे संयोगसे साम्यको भजता है अर्थात् जलका संयोग होनेसे जलके संग एकताको प्राप्त होजाताहै तिसीप्रकारसे जो आत्मा और मनकी एकता है अर्थात् आत्मामें धारण किया हुआ मन आत्माकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त होजाताहै उसी आत्मा मनकी एकताको समाधि कहते हैं जब प्राण भलीप्रकार क्षीण होजाता है और मनकाभी लय होजाताहै उस समयमें हुई जो समरसता उसकोभी समाधि कहते हैं और जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंकी एकतारूपकोही समता कहते हैं और उससमय नष्ट हुये हैं संपूर्ण संकल्प जिसमें उसको समाधि कहते हैं॥५॥६॥७॥

मूल—राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥
घोर **ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते॥७॥**

जीवताहुअर्थ—अब राजयोगकी प्रशंसाका वर्णन करते हैं कि, इसके अनंतर जिवन्मुक्ति होगके माहात्म्यको यथार्थरूपसे कौन जानता है अर्थात् कोई अंतमें अंतःकरणे तत्वसे कहनेके अयोग्य भी एकदेशरूपसे राजयोगके निवृत्ति होनेपर अरते हैं कि, ज्ञान अर्थात् अपने आत्मस्वरूपका अपरोक्ष मुक्ति और निर्विकारस्वरूपमें अवस्थितिरूप जीवन्मुक्ति सिद्धि ये सब गुरुके वाक्यसे प्राप्त हुये राजयोगकेद्वारा

१ नादानुसंधानस विमुच्यते।

मूल--दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अपने प्रमाता (भोक्ता) को जो अपने संगसे विशेष करके बांधे उन्हें विषय कहते हैं और वे विषय इसलोकके स्त्री आदि और परलोकके अमृत आदि होते हैं उन विषयोंका त्याग दुर्लभ है और आत्माके अपरोक्षानुभवरूप तत्त्वका दर्शन दुर्लभ है–और सहजावस्था (तुरीया–अवस्था) दुर्लभ है अर्थात् ये पूर्वोक्त तीनों सद्गुरुकी दयाके विना दुर्लभ हैं और गुरुकी दयासे तो संपूर्ण सुलभ है और सद्गुरुका स्वरूप यह कहेंगे कि, देखनेयोग्य पदार्थके विनाही जिसकी दृष्टि स्थिर हो वह सद्गुरु होता है ॥ ९ ॥

मूल–विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ॥
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥

भाषार्थ–अनेकप्रकारके मत्स्येंद्र आदि आसन और विचित्र २ कुंभक प्राणायाम और विचित्र अर्थात अनेक प्रकारके हठ सिद्धिमें कहे हुये महामुद्रा आदि इनसे जब महाशक्ति (कुंडलिनी) प्रबुद्ध होजाती है अर्थात् निद्राको त्याग देती है तब प्राणवायु शून्य (ब्रह्मरंध्र) में लय होजाता है–और व्यापारके अभावकोही प्राणका लय कहते हैं ॥ १० ॥

मूल–उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ॥
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥

भाषार्थ–उत्पन्न हुआ है कुंडलिनीरूप शक्तिका बोध जिसको और त्याग दिये हैं संपूर्ण कर्म जिसने ऐसे योगीको स्वयंही सहजावस्था होजाती है–क्योंकि आसन बांधनेसे देहके व्यापारका त्याग होनेपर प्राण और इंद्रियोंमें व्यापार बना रहता है और प्रत्याहार–धारणा ध्यान-संप्रज्ञातस-

---

१ दृष्टिःस्थिरा यस्य विनैव दृश्यम् ।

माधि इनसे मानसिक व्यापारको त्याग होनेपर बुद्धिमें व्यापार टिकता है, क्योंकि इस श्रुतिमें असंग यह पुरुष है यह कहा है इससे पुरुष अपरिणामी और शुद्ध है और सत्वगुणरूप बुद्धि परिणामवाली है और उत्तमवैराग्यसे वा दीर्घकालतक संप्रज्ञात समाधिके अभ्याससे बुद्धिके व्यापार कभी त्याग होनेपर निर्विकारस्वरूपमें स्थिति होजाती है वही सहजावस्था, तुर्यावस्था, जीवन्मुक्ति अन्यप्रयत्नके विनाही होजाती है क्योंकि इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिससे त्यागता है उसकोभी त्यागकर बुद्धिसे संगरहित होजाय ॥ ११ ॥

मूल–सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥१२॥

भाषार्थ–प्राणवायु जब सुषुम्नामें बहने लगता है और मन देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे शून्यब्रह्ममें प्रविष्ट होजाता है उस समय चित्तवृत्तिके निरोधका ज्ञाता योगी प्रारब्धसहित संपूर्णकर्मोंको निर्मूल (नष्ट) करदेता है ॥ १२ ॥

मूल--अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः॥
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ–समाधिके अभ्याससे प्रारब्धकर्मकाभी तिरस्कार हो जाता है इससे जिसने कालकोभी जीत लिया है उस योगीको सब नमस्कार करते हैं कि, तिस अमर (चिरजीवी) आपको नमस्कार है. जिसने दुःखसे निवारण करने योग्यभी वह काल (मृत्यु) जीत लिया जिस कालके मुखमें यह स्थावर जंगमरूप चराचर जगत् पतित है ॥ १३ ॥

मूल--चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥

---

१ असंगोह्ययंपुरुषः । २ येनत्यजसितत्त्यजेतिनिःसंगः प्रज्ञयाभवेत ।

भाषार्थ-पूर्वोक्त अमरोली आदि मुद्राके समाधिके सिद्ध होनेपरही सिद्ध हो जाती है इससे समाधि निरूपणके अनंतर समाधिके सिद्ध होनेपर उनकीभी सिद्धिका वर्णन करते हैं कि, जब अंतःकरणरूप चित्त-ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारवृत्ति प्रवाहको प्राप्त होजाता है अर्थात् ब्रह्माकार होजाता है और प्राणवायु सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाता है अर्थात् इसप्रकार चित्तकी समता होनेपर उसकालमें अमरोली, वज्रोली, सहजोली ये पूर्वोक्त मुद्रा भलीप्रकार होजाती हैं और जिसने प्राण और चित्तको नहीं जीता उसको सिद्ध नहीं होती है ॥ १४ ॥

मूल--ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ॥
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब हठाभ्यासके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते इसका वर्णन करते हैं कि, जबतक प्राण और इंद्रिय जीवते हैं और मनभी नहीं मरता है अर्थात् जीवता है इडा और पिंगलामें प्राणके बहनेको प्राणका जीवन और अपने २ विषयोंका ग्रहण करना इंद्रियोंका जीवन-और नाना प्रकारके विषयोंकी वृत्तियोंको उत्पन्न करना मनका जीवन, कहाताहै-और तिस २ भावको प्राप्त हो जानाही यहां तिस २ का मरण विवक्षित है कुछ स्वरूपसे उनका नाश विवक्षित नहीं है-तबतक मनरूप अंतः-करणमें अपरोक्षानुभवरूप ज्ञान कैसे हो सकता है अर्थात् कदाचितभी नहीं हो सकताहै.क्योंकि प्राण,इंद्रिय,मन इनकी जो वृत्ति हैं वे ज्ञानकी प्रतिबं-धक होती हैं-और जो योगी प्राण और इन दोनोंका विशेषकर लय कर-देता है वह योगी आत्यंतिक स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त होताहै-और ब्रह्मरंध्रमें जो विना व्यापार प्राणकी स्थिति वही प्राणका लय कहाता है और ब्रह्मसे भिन्न विषयोंमें व्यापाररहित होनाही मनका लय कहाता है और जो अन्य है अर्थात् जिसके प्राण और मनका लय नहीं हुआहै वह

योगी सैकडों उपायोंसेभी किसीप्रकार मोक्षको प्राप्त नहीं होताहै सोई योगबीजमें कहाहै कि, नानाप्रकारके विचारोंसे तो मन साध्य नहीं होताहै तिससे तिस मनका जयही प्राणका जय है अनेकप्रकारके मार्गोंसे बहुधा जिसमें सुखदुःख है. वह जन्म होताहै और योगमार्गसे कैवल्य (मोक्ष) रूप परमपद मिलताहै अन्यथा नहीं मिलताहै यह शिवजीका कथन है इससे यह सिद्धभया कि, योगके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते हैं और श्रुति,स्मृति, इतिहास पुराण आदिकोंमें भी यही प्रसिद्ध है कि इसके अनंतर आत्मदर्शनका उपाय योग है और अध्यात्मयोगकी प्राप्तिसे देवको मानकर धीरमनुष्य हर्ष और शोकको त्यागताहै और श्रद्धा भक्ति ध्यान योगसे आत्माको जानता भया–और जब मनसहित पांचो ज्ञान इंद्रिय विषयोंसे रहित टिकती हैं और बुद्धि भी चेष्टा न करती हो उसको परमगति योगीजन कहते हैं–और उस स्थिर इंद्रियोंकी धारणाकोही योग मानते हैं और उससमय योगी अप्रमत्त होजाताहै और जीव दयावान् आत्मतत्व (आत्मज्ञान) से योगी ब्रह्मतत्वको देखताहै तब अज और नित्य जो संपूर्णतत्त्वोंसे विशुद्ध देव है उसको जानकर संपूर्णबंधनोंसे छुटता है ब्रह्मरूप तेजको प्राप्तिके तुझ आत्माकी ओंकाररूपसे उपासना करै–और तिन उन्नत (सीधे) और सम शरीरको स्थापन करके और मन सहित इंद्रियोंको हृदयमें प्रविष्ट करके ब्रह्मनामसे भयके दाता संपूर्ण

---

१ नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्यजयः प्रायःप्राणस्य जय एव हि ॥ नानामार्गैः सुखदुःखप्रायं कैवल्यं परमंपदम् । सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम् । २ अथतद्दर्शनाभ्युपायो योग इति अध्यात्मयोगाधि गमेन देवं मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति श्रद्धा भक्तिध्यानयोगादवेद्, यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च नविचेष्टेत तामाहुः परमांगतिम् । तांयोगमितिमन्यंते स्थिरामिंद्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति यदात्मतत्वेनतु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमे नेह युक्तःप्रपश्येत् अजंध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः–ब्रह्मणेत्वामहसः ओमित्यात्मानंयुंजीत त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदींद्रियाणि मनसा सनिवेश्य ब्रह्माह्वयेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् ।

स्रोतोंको विद्वान् योगी तरे–ओंकाररूपसे आत्मका ध्यान करो–और यति-धर्मप्रकरणमें मनुने लिखा है कि,परमात्माके योगसे भूत और भावि पदा-र्थोंको देखै तो स्थूल सूक्ष्मरूप दोनों देहोंको शीघ्र त्यागकर बंधनसे छुट जाताहै–याज्ञवल्क्यस्मृतिमें लिखाहै कि,यज्ञ आचार इंद्रियोंका दमन अहिंसा दान, स्वाध्याय,कर्म–इनका यही परमधर्म है कि,योगसे आत्माको देखना–मातंगमहर्षिका वाक्य है ब्राह्मण, अग्निष्टोम आदि संपूर्ण यज्ञोंको छोडकर योगाभ्यासमें तत्पर हुआ शांत होकर परब्रह्मको प्राप्त होताहै। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्र इनके लिये पवित्रकर्मोंको शांति और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य कोई वस्तु नहीं है–दक्षस्मृतिमें निषेध मुखसे कहाहै कि, स्वसंवेद्य (जोस्वयं जानाजाय) जो वह ब्रह्म उसको योगीसे भिन्न इस प्रकार नहीं जानते हैं जैसे कुमारी (कन्या) स्त्रीके सुखको और जन्मांध घटको नहीं जानताहै–इत्यादि स्मृतियोंमें और महाभारतमें भी योगमा-र्गमें व्यासने कहाहै कि, वर्णावकृष्ट (पतित) वा धर्मकांक्षिणी नारीहो वे दोनों भी इसमार्गसे परमगतिको प्राप्त होते हैं संपूर्णधर्मोंका ज्ञाता हो वा अकृती (पुण्यहीन) हो धार्मिक हो वा अत्यंत पापी हो पुरुष हो वा नपुंस-कहो ऐसा मनुष्यभी जरामरणसमुद्रके महादुःखके सेवनका जाननेका अभिलाषी शब्दब्रह्मका अवलंबन करताहै भगवद्गीतामें भी लिखा है कि,

---

१ भूतभाव्यानवेक्षेतयोगेनपरमात्मनः।देहद्वयं।विहायाशु मुक्तो भवतिबंधनात्। २ इज्या चारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्म दर्शनम्।३ अग्निष्टोमादिकान्सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः।योगाभ्यासरतः शांतः परंब्रह्माधिगच्छति।ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्। शांतये कर्म-णामन्यद्योगान्नास्तिविमुक्तये। ४ स्वसंवेद्यहितद्ब्रह्मकुमारी स्त्रीसुखं यथा। अयोगीनैव जानाति जात्यंधोहि यथा घटम्। ५ अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी। तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम्। यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान्। यदि वा धार्मिकश्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः। यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः। नरः सेव्यं महादुःखं जरा-मरणसागरम्। अपि जिज्ञासमानोपि शब्दब्रह्मातिवर्तते। ६ युंजन्नेवं सदा-त्मानं योगी नियतमानसः। शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति। यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्।

वशीभूत है मन जिसके ऐसा मनुष्य सदा इसप्रकार आत्मयोगको करता हुआ मेरेमें स्थितिरूप और मोक्ष है परम जिसमें ऐसी शांतिरूप स्थानको प्राप्त होताहै जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होताहै उसीमें योगीभी जाते हैं– आदित्यपुराणमें लिखा है कि, योगसे ज्ञान होताहै और मेरेमें एक रस चित्त रखनेको योग कहते हैं। स्कंदपुराणमें लिखा है कि, आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है वह आत्मज्ञान योगके विना नहीं हो सकता और वह योग चिरकालके अभ्याससेही सिद्ध होताहै–कूर्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि, इससे आगे परमदुर्लभ योगको कहताहूं जिससे सूर्यके समान ईश्वर आत्माको योगी देखते हैं योगरूप अग्नि शीघ्रही संपूर्ण पापके पंजरको दग्ध करती है और प्रसन्न ज्ञान होताहै और ज्ञानसे मोक्ष होजाताहै–गरुड पुराणमें कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्य तिसप्रकार यत्नकरे जैसे परमसुखहो और वह सुख योगसे मिलताहै अन्य किसीसे नहीं–संसारके तापोंसे तपाय-मान मनुष्योंके लिये योग परम औषध है जिसकी निर्वेद (वैराग्य) से उत्पन्न हुई बुद्धिपर अवरमें प्रसक्त है योगरूप अग्निसे दग्धहुये हैं समस्त क्लेशसंचय जिसके ऐसा वह परमनिर्वाणपदको सदैव प्राप्त होताहै इसमें संशय नहीं है–प्राप्त हुईही है योगसिद्धि जिसको उसको और

---

१ योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता। २ आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि। स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति। ३ अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम्। येनात्मानं प्रपश्यंति भानुमंत-मिवेश्वरम्। योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम्। प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति। ४ तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृतिःपरा। योगेन लभ्यते सातु नचान्येन तु केनचित्। भवतापेन तप्तानां योगोहि परमौषधम्। परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा। स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्ले-शसंचयः। निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः। संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णोयस्त्वात्मदर्शनात्। नकश्चिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम्। आत्मा-रामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः। अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंद-मयस्य च। तपसाभावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः। प्रतरंति महात्मानो योगेनैव महार्णवम्।

आत्माके दर्शनसे पूर्ण जो है उसको कुछभी कर्तव्य नहीं देखते उसने सबकर लिया-आत्माराम और सदा पूर्णरूप और आत्यंतिक सुखको प्राप्त है इससे परमानंदरूप उसको निर्वेद (सुख) होनाताहै-तपसे जानाहै आत्मा जिन्होंने और वशमें हैं इंद्रिये जिनके ऐसे महात्मा योगीजन योगसेही महासमुद्र (जगत) को तर जातेहैं-और विष्णुधर्ममें लिखाहै कि, जो सबभूतोंका श्रेय है और स्त्रियोंका और कीट पतंगोंका भी उपकार है उस परमश्रेयको हमारे प्रति कहो. इसप्रकार देव और देवर्षियोंने कहाहै जिनको ऐसे कपिलमुनि पहिले समयमें योगकोही श्रेय कहते भये-वासिष्ठमें लिखा है कि, हेराम ! संसारके विषका जो वेग उसकी विषूचिका दुःसह है वह योगरूप और पवित्र गारुडमंत्रसेही शांत होती है कदाचित् कोई शंकाकरै कि तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे भी अपरोक्ष प्रमाण (ज्ञान) होताहै तो किसलिये अत्यंतश्रमसे साध्ययोगमें प्रयास करते हो-कदाचित् कहो कि वाक्यसे जन्यज्ञानके अपरोक्ष होनेमें, प्रमाणका असंभव है सो नहीं-क्योंकि, तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान-अपरोक्षहै-अपरोक्ष विषयक होनेसे-चक्षुसेहुये घट आदिके प्रत्यक्षकी तुल्य यह अनुमान प्रमाण है। कदाचित् कहो कि, विषयकी अपरोक्षताको नीरूप(रूपहीन) होनेसे हेतुकी असिद्धि है सो ठीक नहीं. क्योंकि अज्ञानका विषय चित्त, और चित्तके संग तादात्म्यरूपको प्राप्तत्व, ये दोनोंहैं रूप जिसके ऐसी जो विषयकी अपरोक्षता वह भलीप्रकार निरूपण करने योग्य है जैसे घट आदिमें जब चक्षुकी संनिकर्षदशामें उसके अधिष्ठानरूप चैतन्यकी अज्ञाननिवृत्तिके होनेपर उसका चैतन्य अज्ञानका विषय होना, और उस घटका अज्ञान विषय चैतन्यके संग तादात्म्यकी प्राप्ति होना, ये दोनों अपरोक्ष हैं-तिसीप्रकार तत्वमसि आदि वाक्यसे शुद्ध चैतन्याकार

---

१ यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम्। अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद। इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा। योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा। २ दुःसहाराम संसारविषवेगविषूचिका। योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति।

वृत्तिके होनेपर उसके अज्ञानकी निवृत्ति होनेसेही तत्त्व, अज्ञानका विषय नहीं रहा इससे चैतन्य अपरोक्ष है इससे हेतुकी असिद्धि नहीं है—कदाचित कहो कि, हेतु अप्रयोजक है अर्थात् अपने साध्यको सिद्ध नहीं करसकता, अपरोक्षता ज्ञानसे होती है इससे प्रत्यक्ष जो परोक्ष उसका विषयक होनेसे हेतु प्रयोजक है कुछ इंद्रियजन्यही अपरोक्ष नहीं होता, क्योंकि मन इंद्रिय नहीं है उसकोभी सुख आदिकी विषयकता होनेसे व्यभिचार होजायगा अथवा अभिव्यक्त (प्रकट) चैतन्यके अभिन्नरूपसे जो भासमान होना वही विषयकी अपरोक्षताहै और आवरणकी निवृत्ति होनेकोभी अभिव्यक्त कहतेहैं—और परोक्ष वृत्तिके स्थलमें आवरण निवृत्तिका अभाव है इससे वहां अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है—जो मनुष्य रज्जु आदिमें सर्प आदि भ्रमके उत्पादक दोषवाला है उसको जो यह सर्प नहीं किंतु रज्जु है इस वाक्यसे उत्पन्न हुई जो वृत्ति वह आवरणको निवृत्त नहीं करतीहै इससे वहां परोक्षही विषय है और वेदांतके वाक्योंसे जो ज्ञान उत्पन्न होताहै आवरणका निवर्तक होनेसे वह अपरोक्षही है, क्योंकि वह मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआहै और ज्ञाननिवर्तक प्रमाणकी असंभावना आदि संपूर्ण दोषोंके अभाव विशिष्टही उस वेदांतवाक्योंसे जन्यज्ञानको अज्ञानकी निवर्तकताहै और उस उपनिषदोंसे प्रतिपादन किये पुरुषको पूछताहूं इसे-श्रुतिसे प्रतिपन्न (सिद्ध) उपनिषद् मात्रसे जो ज्ञान जाताहै वह योगसेही जानाजायगा तिससे तत्त्वमसि आदि वाक्यसेही अपरोक्षज्ञान होताहै—सो ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान अप्रयोजक है. क्योंकि प्रत्यक्षके प्रति और पूर्वोक्त अक्ष (इंद्रिय) सामान्यके प्रति इंद्रियरूपसे कारणताहै इससे इंद्रियसे जन्यत्वही प्रयोजक है और नित्य अनित्य साधारण प्रत्यक्षमें तो कुछ प्रयोजक नहीं होताहै और उनके मतमें तो किसी प्रत्यक्षमें इंद्रिय कारण है और किसी प्रत्यक्षमें शब्दविशेष कारण है इसप्रकार दो कार्य कारणभाव होजाँयगे अर्थात् एक कार्यके दो कारण मानने पडेंगे-कदा-

१ तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ।

चित् कहो कि मन इंद्रिय नहींहै सोभी नहीं क्योंकि, मन इंद्रियोंका नाथ है यह वचन मनुष्यके समान उद्देश करके मनुष्योंका यह राजाहै इसके समान मनुष्योंमें ही कुछ उत्कर्षको कहताहै कुछ मनको इंद्रिय भिन्न नहीं कहताहै और तत्त्व तो यह है कि, मन इंद्रियोंमें एक अखंडोपाधिरूपही है इसीसे पायु (गुदा) आदि कर्मेंद्रिय और मन नेत्र आदि ज्ञानेंद्रिय हैं और जो प्रत्यक्षहो वह ऐंद्रियक और जो अप्रत्यक्ष हो वह अतींद्रिय कहाताहै इन शक्तिके निर्णायक कोशोंमें अतींद्रियका प्रमाणक ज्ञानको अप्रत्यक्ष कहते हुये मनको इंद्रिय होना प्रतीत करावे हैं और दश और एक इंद्रिय है यह गीता वचनभी मनके इंद्रिय होनेमें प्रमाण है—और तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे पैदा हुआ ज्ञान—शब्दसे उत्पन्न है, शब्दसे उत्पन्न होनेसे,-यज्ञ करै इत्यादि वाक्योंसे उत्पन्न ज्ञानके समान—इस अप्रत्यक्ष विरोधि शब्दजन्यके साधक अनुमानसे सत्प्रत्यक्षभी है विरोधि पदार्थके साधक हेतुको सत्प्रतिपक्ष कहतेहैं-कदाचित् कहो कि,यह अनुमान अप्रयोजक है सोभी नहीं क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानकाही शब्दजनक होताहै यह लाघवमूलक अनुकूल तर्क इस अनुमानमेंहै-तेरे मतमें तो शब्दसेभी प्रत्यक्षके स्वीकार करनेसे दो कार्य कारण भाव होजायँगे इससे गौरवहै—और मनन, निदिध्यासनसे पहिले भी उत्पन्न और तेरे मतमें परोक्षभी, उक्तज्ञान अज्ञानका निवर्तक नहीं होगा इससे अज्ञाननिवृत्तिके प्रति बाधज्ञानरूपसेही हेतु मानना पडेगा यह भी गौरव है. मेरे मतमें तो समाधिका जो अभ्यास उसके परिपाकसे असंभावना आदि संपूर्ण मलोंसे रहित अर्थात् अंतःकरणसे आत्माके देखनेपर और दर्शनमात्रसेही अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है इससे कोई भी गौरवका अवकाश नहीं है—और संपूर्ण भूतोंमें यह गुप्त आत्मा प्रकाशित नहीं होता है, परंतु सूक्ष्मदर्शी मनुष्य इस आत्माको सूक्ष्म और मुख्य जो बुद्धि उससे देख-

---

१ इंद्रियाणां मनो नाथः—मनुष्याणामयं राजा। २ कर्मेंद्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धीन्द्रियम्। प्रत्यक्षं स्यादैंद्रियकमप्रत्यक्षमतीन्द्रियम्। ३ इंद्रियाणि दशैकं च।

ते हैं–धीर मनुष्य वाणी और मनको रोके इन वचनोंसे लेकर अज्ञानकी निवृत्ति है अर्थ जिसका ऐसे इस कठवल्लीके मृत्युके मुखसे छुटताहै मृत्युके उपदेशकोभी यह बात संमत है इससे इसमें कोई विवाद नहीं है–और यदि मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआ ज्ञान परोक्षही है इससे प्रतिबंधनका किया गौरव नहीं है इस मतको मानोगे तो तब भी श्रवण आदिसे मनका संस्कार सिद्ध होनेपर उसके अनंतर कालहीमें आत्माका दर्शन संभव है इससे उसके अनंतर वाक्योंके स्मरण आदिको कल्पना करनेमें भी महान् गौरवहै–कदाचित् शंका करो कि हम केवल तर्कसे शब्दजन्य ज्ञानको अपरोक्ष नहीं कहतेहैं किंतु श्रुति भी कहती है सोई दिखातेहैं कि, उस उपनिषदोंसे कहे हुये पुरुषको मैं पूछता हूं इस श्रुतिसे जो पुरुषको औपनिषदरूप कहाहै वह कुछ उपनिषदोंसे उत्पन्न जो बुद्धि उसकी विषयमात्र नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदिसे जानने योग्यमें औपनिषद् यह व्यवहार होजायगा जैसे बारह कपालोंमें आठ कपालोंके होनेपरभी द्वादश कपालोंमें संस्कार किये पदार्थमें आठ कपालोंमें संस्कृत यह व्यवहार नहीं होताहै और जैसे द्विपुत्र मनुष्यमें एकपुत्र व्यवहार नहीं होताहै तैसेही यहां भी समझना और अन्यत्र तैसा व्यवहार नहीं होताहै इससे उपनिषद्मात्रसे जानने योग्यही यहां प्रत्ययका अर्थ है और मनसे जानने योग्य आत्माको मानोगे तो वह सिद्ध नहीं होगा यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्ययसे, उपनिषदसे भिन्न जो सबकारण हैं उनकी निवृत्ति (निषेध) नहीं होती है, क्योंकि शब्दके अपरोक्षवादी आपने भी आत्माके परोक्षज्ञानमें मन आदि करण माने हैं किंतु प्रत्ययसे पुराण आदि जो अन्य शब्द है उनकीही व्यावृत्ति होती है, क्योंकि श्रुतिके वाक्योंसे

---

१ एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसीधीरः–मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । २ तंत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ।

आत्मा सुनने योग्य है यह कहाहै और वह अर्थ मुझे भी संमत है इससे आपका कथन तुच्छ है और प्रमाणांतरकी व्यावृत्तिमें श्रुतिके तात्पर्यकी कल्पना तभी कहनी योग्य है जब शब्दरूप प्रमाण सिद्ध होजाय और पुराण आदि शब्दांतरकी व्यावृत्तिमें तात्पर्य तो श्रुति आदिकी संमत होनेसे कल्पना करनेको उचितही है ऐसा सिद्ध होनेपर यह आत्मा मनसेही देखने योग्य है और मनसेही प्राप्त होनेयोग्य है इत्यादि श्रुतिभी अनायाससे लगसकती है जो किसीने यह कहा है कि, दर्शन वृत्तिके प्रति जो मनमात्रकोही उपादान कहती हैं उन श्रुतियोंके संग कुछ विरोध नहीं है। यह उनका कहना तो अत्यंतही विचारमें नहीं आसकता क्योंकि, प्राणकी आकांक्षामें प्रवृत्त हुई वे श्रुति उपादानमें तत्पर कैसे होसकती हैं क्योंकि काम, संकल्प, विचिकित्सा (संदेह) ये सब मनहीसे हैं इत्यादि श्रुतिसे निश्चयपूर्वक सब वृत्तियोंका मनकोही उपादान कारण बोधन करदिया तब आकांक्षाके अभावसे उपादानमें तात्पर्यको श्रुति कैसे वर्णन करसकती हैं। पहिले दूसरी वल्लीमें ओंकारको ब्रह्मबोधक कहा है इससे ओंकारभी अपरोक्षज्ञानका हेतु होजायगा, इस शंकाके निवारण करनेके लिये मनसे ही आत्मा देखने योग्य है. इत्यादि निश्चायक वचन हैं इसरीतिसे संपूर्ण श्रुति वर्णन करने (लगाने) को शक्य हैं इसप्रकार वाक्जालसे अलं हैं अर्थात् वाणीके जालको समाप्त करते हैं सिद्धांत तो यहहै कि, योगियोंको समाधिकेविषे दूर और विप्रकृष्टपदार्थोंका जो ज्ञानहै संपूर्ण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध वह ज्ञान परोक्ष नहीं है, क्योंकि उससमय कोई परोक्षकी सामग्री नहीं है और स्मरण भी नहीं है क्योंकि उनका पहिले पृथक् २ अनुभव नहीं है और सुखआदिके ज्ञान समान वह साक्षिस्वरूपभी नहींहै क्योंकि इसमें सिद्धांतका विघात है और प्रमाण रहितभी नहीं है क्योंकि संपूर्ण प्रमाणोंमें करणका नियम है और चक्षुआदिसे उत्पन्न भी वह ज्ञान नहीं है क्योंकि

---

१ श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः। २ मनसैवानुद्रष्टव्यं मनसैवेदमाप्तव्यम्। ३ कामः संकल्पो विचिकित्सा।

चक्षुआदिका उस समय संनिकर्ष नहीं है तिससे वह मानसिक प्रमाही कहनी चाहिये इससे मन प्रमाणरूप और इंद्रिय है यह निर्दोषहै—और भी जो योग और श्रुतिके समुच्चयकी कल्पना करते हैं उनके भी मतमें पूर्वोक्त दूषणोंका गण तदवस्थहीहै तिससे यह सिद्धभया कि, योगजन्य संस्कारहै सहायक जिसका ऐसे मनसेही आत्मा जानने योग्यहै कदाचित् कोई कहै कि, कामिनीकी भावना करनेवाले पुरुषको जैसे व्यवहित (दूरस्थित) कामिनीका साक्षात्कार अप्रमा होताहै इसीप्रकार भावनासे उत्पन्न आत्मसाक्षात्कारभी अप्रमा होजायगा सोभी ठीक नहीं क्योंकि आत्मसाक्षात्कारका विषय (आत्मा) बाधित नहीं है और न दोषसे जन्य है कामिनीका साक्षात्कार तो बाधित विषयक है और दोषजन्यभी है इससे अप्रमाणहै तिससे भावनासे जन्य आत्मसाक्षात्कार अप्रमाण नहीं है कदाचित् कहो कि, भावनाको समाधिका ज्ञापक मानोगे तो यह भी एक प्रमाण होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भावना मनकी सहकारिणीहै इससे प्रमाणके निरूपणमें अनिपुण नैयायिक आदिकोंने भी योगजप्रत्यक्षका अलौलिक प्रत्यक्षमें अंतर्भाव किया है और योगसे उत्पन्न हुये अलौकिक संनिकर्षसे योगीजन व्यवहित विप्रकृष्ट और सूक्ष्म पदार्थरूप भी आत्माको यथार्थरीतिसे देखते हैं—सोई इस पातंजलसूत्रमें कहाहै कि, उक्त समाधिमें जो सत्यप्रज्ञा (बुद्धि) है उसके शब्द बोध और अनुमानसे अर्थात युक्तिसिद्धज्ञान है उनसे वह प्रज्ञा अन्यविषयक होजाती है अर्थात् भिन्न अर्थकोभी विषय करलेती है क्योंकि उसका विषय निर्विकल्पक अर्थ है—तिससे शब्द पदार्थ वृत्तिधर्म (घटत्व आदि) पुरस्कारके विनाही और अनुमानव्यापकमें वर्तमान धर्मके पुरस्कार (ज्ञान) सेही बोधके जनक, नियमसे है इससे अर्थके ग्रहणमें योग्य विशेष्यमेंही तत्पर है अर्थात योग्यविषयकोही ग्रहण करते हैं—यहां व्यासजीका रचा यह भाष्यहै कि, श्रुतनाम आगम विज्ञानहै—वह आगमविज्ञान सामान्य विषय हैं क्योंकि आगम विशेषको

---

१ ऋतंभरातत्रप्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् ।

नहीं कहसकता, क्योंकि विशेषरूपसे शब्दका संकेत नहीं होताहै—इससे आरंभ करके समाधि प्रज्ञासे भलीप्रकार ग्रहण करने योग्य वह विशेष है और वह पुरुषगत है वा भूतसूक्ष्मगत है—योगबीजमें कहा है कि, ज्ञाननिष्ठहो वा विरक्तहो धर्मज्ञहो वा जितेंद्रियहो योगके विना देव भी हे प्रिये मोक्षको प्राप्त नहीं होता है और यह श्रुति भी है[2] कि, कर्मके संग उसीबातके करनेमें यह मनुष्य आसक्त है जिसमें इसका मनरूप लिंग प्रविष्ट है और स्मृति भी है[3] कि सत असत योनियोंके जन्मोंमें इसको गुणोंका संगही कारण है- देहके मरणसमयमें जिसविषयमें राग आदिसे उद्बुद्ध होताहै उसीयोनिको जीव प्राप्त होताहै इससे योगहीनका अन्य जन्म होताही है, क्योंकि मरणके समयमें हुई जो विकलता उसको अयोगी नहीं हटा सकता है सोई योगबीजमें कहा है कि, देहके अंतसमयमें जिस २ को विचारता है वही वह जीव होजाता है यही जन्मका कारण है देहके अंतमें कौन जन्म होगा यह मनुष्य नहीं जानते हैं—तिससे ज्ञान, वैराग्य, जप ये केवल श्रम हैं—जब पिपीलिका (चेंटी) देहमें लगजाती है और ज्ञानसे छुटजाती है तो वृश्चिकोंसे डसा हुआ यह जीव देहके अंतमें कैसे सुखी हो सकताहै-योगियोंको तो योगके बलसे अंतकालमें भी आत्मविचारसे मोक्षही होताहै जन्मांतर नहीं होता है सोई भगवानने कहा है[5] कि मरण समयमें अचल मनसे भक्तिसे युक्त वा योगके बलसे मोक्ष होताहै और यह श्रुतिभी है[6] कि एकसौ एक हृदयकी नाडी हैं कदाचित कहो कि, तत्त्वमसि आदि वाक्यको अपरोक्षज्ञानका जनक मानोगे तो उसका विचार करना व्यर्थ है,

---

१ ज्ञाननिष्ठोविरक्तोपि धर्मज्ञोपि जितेंद्रियः। विनायोगेन देवोपि नमोक्षं लभतेप्रिये। २ तदेवसक्तः सहकर्मणेति लिंगं मनोयत्र निविष्टमस्य। ३ कारणं गुणसंगोस्य सदसद्योनिजन्मसु। ४ देहावसानसमये चित्तेयद्यद्विभावयेत्। तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम्। देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानंति मानवाः। तस्मात्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्चकेवलं श्रमः। पिपीलिका यदालग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते। असौकिं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी॥ ५ प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेनचैव। ६ शतं चैकाहृदयस्य नाड्यः।

है—सो ठीक नहीं क्योंकि वाक्यके विचारसे उत्पन्न जो ज्ञान है वह योगके द्वारा अपरोक्ष साधन है इसविषयमें योगबीजमें गौरी और महादेवका बहुत संवादहै उसमेंसे कुछ यहां लिखते हैं कि, पार्वती बोली जो ज्ञानी मरते हैं उनकी कैसी गति होती है—हे देवेश!हे दयारूप अमृतके समुद्र! इसको कहो. ईश्वर बोले कि, देहके अंतमें ज्ञानीको पुण्य पापसे जो फल प्राप्त होता है उसको भोगकर फिर ज्ञानी होजाताहै फिर पुण्यसे सिद्धोंको संग संगतिको प्राप्त होता है फिर सिद्धोंकी कृपासे योगी होताहै अन्यथा नहीं होता, फिर संसार नष्ट होजाता है अन्यथा नहीं। यह शिवका कथनहै. पार्वती बोली ज्ञानी सदा ज्ञानसेही मोक्षको कहते हैं तो सिद्ध योगसे योग मोक्षका दाता कैसे होजाता है ? ईश्वर बोले ज्ञानसे मोक्ष होताहै यह उनका वचन अन्यथा नहीं है—जैसे सब कहते हैं कि, खड्गसे जय होताहै तो युद्ध और वीर्यके विना जयकी प्राप्ति कैसे होगी—तैसेही योगरहित ज्ञानसे मोक्ष नहीं होताहै इत्यादि—कदाचित् कोई शंका करै कि, जनक आदिकोंको योगके विनाही प्रतिबंध रहित ज्ञान और मोक्ष सुने जाते हैं तो कैसे योगसेही प्रतिबंधरहित ज्ञान और मोक्ष होंगे—इसशंकाका उत्तर देते हैं कि, उनको पूर्वजन्ममें किये योगसे उत्पन्न जो संस्कार उससे ज्ञानकी प्राप्ति पुराण आदिमें सुनी जाती है सोई दिखातेहैं कि जैसे जैगीषव्य ब्राह्मण और असित आदिब्राह्मण और जनक आदि क्षत्रिय और तुलाधार आदि वैश्य ये पूर्व जन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमसिद्धिको प्राप्त हुये और धर्मव्याध आदि सात शूद्र पैलवकआदि—और मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी—शांडिली ये तपस्विनी—ये और अन्य बहुतसे नीचयोनिमें गतभी पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमज्ञान निष्ठाको प्राप्त हुये—और पूर्वजन्ममें किये योगके पुण्यके अनुसार कोई ब्रह्मा कोई ब्रह्माके पुत्र कोई देवर्षि कोई ब्रह्मर्षि कोई मुनि कोई भक्तरूपको प्राप्त हुये हैं—और उपदेशके विनाही आत्मसाक्षात्कारवाले हो जाँयगे सोई दिखातेहैं कि हिरण्यगर्भ, वसिष्ठ, द, सनत्कुमार, वामदेव शुक आदि ये पुराण आदिमें जन्मसेही सिद्ध

सुनेहैं और जो पुराण आदिमें यह सुनाहै कि, ब्राह्मणही मोक्षका अधिकारी है-यह योगीसे भिन्नके विषयमें समझना सोई गरुडपुराणमें कहाहै कि, जन्मांतरमें किया योगाभ्यास जिनमनुष्योंको नहींहै उनको योग प्राप्तिके लिये शूद्र वैश्य आदिका क्रम है वे स्त्रीसे शूद्र होतेहैं और शूद्रसे वैश्य होतेहैं और दयासेरहित क्षत्रियहो जाते हैं फिर अनूचान (विद्यावान)-यज्ञका कर्ता-फिर कर्मसंन्यासी होते हैं फिर ज्ञानी योगी होकर क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् शूद्र वैश्य आदि क्रमसे योगी होकर मुक्तिको प्राप्त होजातेहैं इसप्रकार सब जातियोंका अधिकार सुननेसे योगसे उत्पन्न तत्वज्ञानके द्वारा सब मुक्त होते हैं यह सिद्ध भया-और भ्रष्टभी योगीको तो शूद्र आदिका क्रम नहींहै क्योंकि भगवान्का यह वचनहै[२] कि, योगसे भ्रष्टमनुष्य, शुद्ध जो धनी उनके कुलमें पैदा होताहै अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें पैदा होताहै-इतिअलम्-भावार्थ यहहै कि, जबतक प्राण जीवै और मन न मरै तबतक इसलोकमें ज्ञान कहांसे होसकता है और जो मनुष्य प्राण और मनका लयकरदे वह मोक्षको प्राप्त होता है अन्यमनुष्य किसीप्रकार भी प्राप्त नहीं होताहै ॥ १५ ॥

मूल-ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥१६॥

भाषार्थ-प्राण और मनके लयविना मोक्ष सिद्ध नहीं होता यह कहा उनमें प्राणके लयसे मनकाभी लय सिद्ध होता है इससे प्राणके लयकी रीतिका वर्णन करते हैं कि, सदैव उत्तमस्थानमें अर्थात् उत्तमराज्य और धार्मिकदेशमें स्थित होकर सुषुम्ना नाडीके भेदनको भलीप्रकार गुरु

---

१ योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतरादतः।योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकः क्रमः॥ स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात्। ततश्चक्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत्॥ अनूचानस्ततो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम्।ततोज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत्। २ शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते। अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

मुखसे जानकर और प्राणवायुको मध्यनाडिमें गत (संचारी) करके ब्रह्मरंध्र (मूर्द्धाका अवकाश) में निरुद्ध करे (रोके) प्राणका ब्रह्मरंध्रमें जो निरोध वही लय है और प्राणके लय होनेपर मनका भी लयहोजाता है सोई वासिष्ठमें कहा है कि अभ्याससे जब प्राणोंकी क्रियाका क्षय होजाताहै तब मन शांत होजाता है और निर्वाणही शेष रहजाता है और प्राण और मनका लय होनेपर भावना विशेषरूप समाधि है सहकारी जिसकी ऐसे अंतःकरणसे अबाधित आत्मसाक्षात्कार जब होजाता है तब पुरुष जीवन्मुक्त हो जाताहै ॥ १६ ॥

मूल–सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिं दिवात्मकम् ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ–अब प्राणका लय होनेपर कालका जय होता है इसको वर्णन करते हैं कि सूर्य और चंद्रमा,रात्रदिन हैं स्वरूप जिसके ऐसे कालको करते हैं और सुषुम्ना जो नाडी है वह सरस्वतीरूप नाडी सूर्य और चंद्रमाके किये रात्रिदिनरूप कालकी भक्षण करनेवाली है अर्थात् नाशिका है यह गुप्त वस्तु कही है तात्पर्य यह है कि, अढाई घडीतक सूर्य बहता है और अढाई घडीतक चंद्रमा बहताहै जब सूर्य स्वर बहता है वह दिन कहता है और जब चंद्रमा बहताहै तब रात्रि कहाती है. इसप्रकार पांच घडीके मध्यमेंही रात्रिदिनरूप काल होजाताहै लौकिक अहोरात्रके मध्यमें योगियोंके बारह अहोरात्र होते हैं और उसी लौकिक कालके मानसे जीवोंकी आयुका प्रमाण है जब सुषुम्नाके मार्गसे वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन होजाता है तब रात्रिदिनरूप कालके अभावसे कहा है कि, सुषुम्नाकालकी भोक्त्री है जितने कालतक वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन रहता है उतनेही कालतक योगियोंकी आयु बढती है बहुत कालतक कियाहै समाधिका अभ्यास जिसने ऐसा योगी पहिलेही अपने मरणसमयको जानकर और ब्रह्मरंध्रमें प्राण

---

१ अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाण मवशिष्यते ।

वायुको लेजाकर कालका निवारण करता है और अपनी इच्छासे देहका त्याग करता है ॥ १७ ॥

मूल–द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८॥

भाषार्थ–इस मनुष्यके पंजरमें अर्थात् पंजरके समान शिरा अस्थियोंसे बँधे हुये शरीरमें बहत्तर सहस्र नाडियोंके द्वार हैं अर्थात् वायुप्रवेश होनेके मार्ग हैं उनमें सुषुम्ना जो मध्यनाडी है वह शांभवी शक्ति है अर्थात् तिससे भक्तोंको सुखहो ऐसे शंभु (शिवजी) की शक्ति है क्योंकि वह नाडी ध्यानसे शंभुको प्राप्त करती है वा शंभुकी प्रकटताको पैदाकरती है इसीसे शांभवी कहाती है अथवा शं (सुख)रूप जो टिकै उस आत्माको शंभु कहते हैं उसकी जो शक्ति वह शांभवी कहाती है क्योंकि,वह चैतन्यकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का स्थान है और ध्यानसे आत्माके साक्षात्कारका हेतु भी सुषुम्ना है और शेष जो इडा पिंगला आदि नाडी हैं वे सब निष्प्रयोजन हैं अर्थात् उनसे पूर्वोक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है ॥ १८ ॥

मूल–वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥

भाषार्थ–जिससे परिचित अर्थात् अभ्यास किया वायु जठराग्निके संग कुंडलीशक्तिको बोधन (जगा) करके निरोध (रोक) के अभावसे सरस्वतीरूप सुषुम्नामें प्रविष्ट हो जाता है इससे वायुका सुषुम्नामें प्रवेशके लिये अभ्यास करना उचित है ॥ १९ ॥

मूल–सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्धयत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥२०॥

भाषार्थ–जब प्राण सुषुम्नामें बहने लगता है तब मनोन्मनी अवश्य सिद्ध हो जाती है और प्राणके सुषुम्नावाही न होनेपर तो सुषुम्नाके अभ्याससे

भिन्न जितने अभ्यास योगियोंके हैं वे सब वृथा हैं अर्थात् परिश्रमके ही जनक होनेसे उनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होताहै ॥ २० ॥

मूल–पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥

भाषार्थ–योगी जिससे पवनका बंधन करलेता है उसीसे मनको भी बंधन करलेता है और जिस कारणसे मनका बंधन करसकता है उसी रीतिसे प्राणकोभी बांध सकता है अर्थात् मन और पवन इन दोनोंमेंसे एकके बंधनसे दोनोंका बंधन हो सकता है ॥ २१ ॥

मूल–हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥२२॥

भाषार्थ–चित्तकी प्रवृत्तिमें दो हेतु हैं एक तो वासना अर्थात् भावना नामका संस्कार और प्राणवायु वासना और प्राणवायु इन दोनों-मेंसे एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट हो जाते हैं–यहां यह आशय है कि, वासनाके क्षय होनेपर–पवन और चित्त नष्ट हो जाते हैं और पवनके क्षीण होनेपर चित्त और वासना नष्ट हो जाते हैं–और चित्तके क्षीण होने-पर पवन और वासना क्षीण होजाते हैं–सोई वासिष्ठमें कहाहै कि, हे राम प्राणकी क्रिया और वासना ये दोनों चित्तके बीज हैं उन दोनोंके मध्यमें एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट हो जाते हैं–और वासिष्ठमें ही व्यतिरेक (निषेध) के द्वारा कहाहै कि, जबतक मनका लय नहीं होता तबतक

---

१ द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पंदनवासना । एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः । २ यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः । न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः। यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥ यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्वा-गमः कुतः । यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥ तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च । मिथःकारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥ त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः । तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः ।

वासनाका क्षय नहीं होता है और इतने वासनाका क्षय नहीं होता तबतक चित्त शांत नहीं होता है और जबतक विज्ञान नहीं होता तबतक चित्तका संक्षय नहीं होता है—और जबतक चित्त शांत नहीं होता तबतक तत्वज्ञान नहीं होता है—और जबतक वासनाका नाश नहो तबतक तत्वका आगमन कहां—और जबतक तत्वका आगम (प्राप्ति) न हो तबतक वासनाका क्षय नहीं होता—इससे तत्वज्ञान मनका नाश—और वासनाका क्षय ये तीनों परस्पर कारण होकर दुःखसे साध्यरूप होकर स्थित हैं इससे जबतक इन तीनोंका समरीतिसे वारंवार अभ्यास न किया जाय तबतक अन्य कारणोंसे तत्व (ब्रह्मज्ञान) की संप्राप्ति नहीं होती है॥२२॥

**मूल—मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥**

भाषार्थ—जिसमें मनका लय होता है वहांही पवनका लय हो जाता है और जहां पवनका लय होता है वहां ही मनभी लीन हो जाता है ॥ २३ ॥

मूल—दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ॥ यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥

भाषार्थ--दूध और जलके समान मिलेहुये मन और पवनरूप जो चित्त और प्राण हैं वे दोनों तुल्यक्रिय हैं अर्थात् दोनोंकी प्रवृत्ति तुल्य होती है अर्थात् जिस नाडियोंके चक्रमें वायु प्रवृत्त होताहै उसी चक्रमें मनकी प्रवृत्ति होती है और जिस चक्रमें मन प्रवृत्त होता है उसी चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होती है सोई वासिष्ठमें कहा है कि, प्राणियोंके प्राण और चित्त दोनों अविनाभावी हैं अर्थात् एकके विना एक नहीं होसकता है

---

१ अविनाभाविनी नित्यं जंतूनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते ॥ कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ।

और पुष्प और सुगंधके समान मिलेहुए तिल और तेलके समान स्थित हैं और ये अपने विनाशसे मोक्षरूप उत्तम कार्यको करते हैं ॥ २४ ॥

**मूल–तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपद-
स्य सिद्धिः ॥ २५ ॥**

भाषार्थ–उन दोनों पवन और मनके मध्यमें एक मन वा पवनके नाशसे दूसरे पवन वा मनका नाश होता है और एक मन वा पवनके व्यापारसे दूसरे मन वा पवनका व्यापार होता है और जबतक मन और पवन नष्ट नहीं होते तबतक संपूर्ण इन्द्रियोंका समुदाय अपने २ विषयमें प्रवृत्त होता है और जब मन और प्राणका भलीप्रकार लय हो जाता है तब मोक्षरूप पदकी सिद्धि होती है, क्योंकि इन दोनोंका लय होनेपर पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति होजाती है और इस मूलके श्लोकका उत्तरश्लोक योगबीजमें यह लिखा है कि, षडंगयोग आदिके सेवनसे पवनका नाश साधन करने योग्य है और मनका विनाश तो गुरुके प्रसादद्वारा निमेष-मात्रसे सुसाध्य है ॥ २५ ॥

**मूल--रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः ॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥२६॥**

भाषार्थ–और रस (पारा) और मन ये दोनों स्वभावसे चंचल हैं यदि रस और मन ये दोनों बंधजाय तो भूतलमें ऐसी वस्तु कौन है जो सिद्ध न हो सके अर्थात् सब पदार्थ सिद्ध होसकते हैं ॥ २६ ॥

**मूल–मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ॥
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥ २७ ॥**

भाषार्थ–औषधिविशेषके योग्यसे नष्टहुई है चपलता जिसकी ऐसा

---

१ तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन । मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ।

रस मूर्च्छित कहाताहै और कुंभकके अंतमें रेचकसे निवृत्त वायुको मूर्च्छित कहतेहैं. हे पार्वती! मूर्च्छित कियाहुआ पारद और प्राणवायु संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है और माराहुआ अर्थात भस्म कियाहुवा पारा और ब्रह्मरंध्रमें लीन प्राणवायु, यह अपने सामर्थ्यसे मनुष्यको दीर्घकालतक जिवा सकता है और बद्ध किये हुए वे दोनों अर्थात् क्रियाविशेषसे गुटिकाकार किया हुआ पारा और भ्रुकुटिकेमें धारणाविशेषसे धारण कियाहुआ प्राणवायु ये दोनों आकाशगतिको करते हैं अर्थात् वह योगी पक्षियोंके समान आकाशमें उडसकताहै सोई गोरक्षकशतकमें कहहै कि, भिन्नांजन पुंजके समान अर्थात पिसे हुए अंजनके समूहकी तुल्य गोलाकार वायुरूप और पकार सहित तत्त्व (प्राण) भ्रुकुटियोंके मध्यमें है उस तत्वका ईश्वर देवता है उस ईश्वरमें प्राणको चित्तसहित लय करके पांचघटी पर्यंत धारण करै, यह वायुके संग चित्तकी धारणा योगी जनोंका आकाशमें गमन करती है ॥ २७ ॥

मूल--मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥
बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

भाषार्थ–मनकी स्थिरता होनेपर प्राणभी स्थिर होताहै और वायुकी स्थिरतासे वीर्यकी स्थिरता होती है और वीर्यकी स्थिरतासे सदैव बल होताहै और उससेही देहकी स्थिरता होतीहै ॥ २८ ॥

मूल–इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥२९॥

भाषार्थ–श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका नाथ (प्रवर्त्तक) अंतःकरण मनहै और मनका नाथ प्राणहै और प्राणका नाथ मनका लयहै और वह मनका लय नादके आश्रितहै अर्थात नादमें मनका लय होताहै ॥ २९ ॥

---

१ यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरंतरे तत्वं वायुमयं पकारसहितं तत्रेश्वरोदेवता । प्राणं तत्र विलास्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयादेषाखेगमनं करोतियमिनां स्याद्वायुना धारणा ॥

मूल–सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥
मनः प्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

भाषार्थ–सो यही चित्तकालय मोक्षरूप है अर्थात् इसकोही मोक्ष कहते हैं अथवा मतांतरमें इसको मोक्ष मतमानों, क्योंकि चित्तका लय सुषुप्तिमें भी होता है तोभी मन और प्राणके लय होनेपर जो कुछ अकथनीय आनंद प्रकट होताहै उस अनिर्वचनीय आनंदके प्रकट होनेपर जीवन्मुक्ति रूप सुख अवश्य होताहै ॥ ३० ॥

मूल–प्रणष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम्॥३१॥

भाषार्थ–जिसमें श्वास और निःश्वास भलीप्रकार नष्ट होजाय अर्थात् बाहरकी पवनका जो भीतर प्रवेश वह श्वास, और भीतरकी पवनका बाहर निकासना यह निःश्वास, यह दोनों जिसमें न रहें और इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करनाभी जिससे भलीप्रकार नष्ट होजाय, और देहकी क्रियारूप चेष्टाभी जिसमें न रहै; और अंतःकरणकी क्रिया-रूप विकारभी जिसमें न हो, ऐसा जो योगियोंका लय है अर्थात ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी जो अंतःकरणवृत्तिहै, वह सबसे उत्त-महै ॥ ३१ ॥

मूल–उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥
स्वावगम्यो लयःकोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२॥

भाषार्थ–जिसमें मनके परिणामरूप संपूर्ण संकल्प नष्ट होगये हों और जिसमें संपूर्ण चेष्टित न रहे हों अर्थात् करचरण आदिका व्यापार निवृत्त होगया हो और जो अपने आपही जानने योग्य हो अर्थात जिसको अन्य पुरुष न जानसके और जो वाणीकाभी अगोचर हो अर्थात् वाणीभी जिसको न कहसके ऐसा विलक्षण लय योगीजनोंको प्रकट (उत्पन्न) होताहै ॥ ३२ ॥

मूल—यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी ॥
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥३३॥

भाषार्थ—जिस ब्रह्मरूप विषयमें अंतःकरणकी वृत्ति होतीहै उसीमें मन लय होताहै और पृथ्वी आदि पंच महाभूत और श्रोत्र आदि इन्द्रिय ये जिसमें न हों वह अविद्या, क्योंकि सत्कार्यवाद मतमें अविद्यामें संपूर्ण कार्यका समूह रहता है. सत्कार्यवाद यहहै कि, घट आदिकार्य सत्रूप है— और प्राणियोंकी शक्तिरूप विद्या ये अविद्या और विद्यारूप दोनों अलक्ष्य ब्रह्ममेंही योगियोंके लय हो जातेहैं ॥ ३३ ॥

मूल—लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—बहुतसे मनुष्य लय ऐसा कहते हैं परंतु लयका लक्षण (स्वरूप) क्याहै ऐसा कोई पूछे तो शब्द आदि संपूर्ण विषयोंकी वा, ध्यान करनेयोग्य विषयकी जो विस्मृति उसको लय कहते हैं क्योंकि उस मनमें फिर वासना नहीं उठती हैं वा वह मन फिर वासनाओंका स्थान नहीं रहता है ॥ ३४ ॥

मूल—वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—चारों वेद और छहोंशास्त्र और अष्टादश १८ पुराण ये सब सामान्य गणिका (वेश्या) के समानहैं क्योंकि ये अनेक पुरुषोंके जानने योग्यहैं—और एक पूर्वोक्त शांभवीमुद्राही कुलवधूके समान गुप्त है क्योंकि उसको कोई बिरला मनुष्य ही जानसकताहै ॥ ३५ ॥

मूल—अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—चित्तके लयार्थ प्राणलयका साधन जो शांभवीमुद्र

उसके कथनके अभिलाषी आचार्य–प्रथम शांभवीमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, भीतरके जो आधार आदिचक्र हैं उनके मध्यमें अपनेको अभीष्ट जो चक्रहो उसमें लक्ष्य (अंतःकरणकी वृत्ति) हो और बाहिरके विषयोंमें जो दृष्टि हो वह निमेष और उन्मेषसे वर्जित हो अर्थात् पक्ष्म (पलख) के संयोग और वियोगसे हीन हो, क्योंकि चित्तमें ध्यान करनेके योग्य जो वस्तु उसके आकारके आवेश होनेसे निमेष उन्मेष रहित प्रकाशितही नेत्र बने रहतेहों–वेद और शास्त्रोंमें गुप्त यह मुद्रा अर्थात् ऋग्वेद आदि वेद और सांख्य पातंजल आदिशास्त्रोंमें भी छिपीहुई यह मुद्रा शांभवी कहातीहै कि, इससे शंभुका आविर्भाव (प्रकटता) होताहै वा यह मुद्रा शंभु भगवान्ने कहीहै ॥ ३६ ॥

मूल–अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम् ३७

भाषार्थ–अब शांभवीमुद्राके स्वरूपको घटाकर दिखातेहैं कि, जिस कालमें योगी इसप्रकार वर्ते अर्थात् स्थित रहै कि, भीतर अनाहता (निश्चल) पद्म आदिमें जो सगुण मूर्ति आदि लक्ष्य है वा तत्त्वमसी आदि महावाक्योंसे लक्ष्य जो जीव ईश्वरके अभेदरूप मैं ब्रह्म हूं इस वाक्यका अर्थरूप ब्रह्म है उसमेंही विशेषकर जिसके चित्त और पवन (प्राण) ये दोनों लीनहों और निश्चल हैं तारे जिसमें ऐसी दृष्टि (नेत्र) से देहसे बाहिरके देशमें देखताहुआभी अद्रष्टाके समान हो अर्थात् बाहिरके विषयको न जानताहुआ अधोदृष्टि रहताहै–यह पूर्वोक्त शांभवी नामकी मुद्रा है और जो क्लेशोंको छिपाले उसे मुद्रा कहते हैं–यदि यह मुद्रा गुरुके प्रसादसे प्राप्त होजाय तो वह शांभव शंभुभगवान्का तत्व जिसको इसप्रकार नहीं बतासकते कि, यहहै शांभवीमुद्रामें भासमान वह

योगियोंको प्राप्त होने योग्य आत्मारूप तत्त्व अर्थात् ध्येयाकार वृत्तिके होनेसे शून्यसे विलक्षण और अंतमें ध्येयाकार वृत्तिकेभी अभावसे अशून्यसे विलक्षण वास्तविक वस्तु, योगीजनोंके मनमें स्फुरती है अर्थात् प्रतीत होती है-सोई कहा है कि अनन्यबुद्धि होकर अर्थात् अन्यविषयमें बुद्धिको न लगाकर भीतरके लक्ष्य (ब्रह्म) को दृष्टिके उन्मेष निमेषसे वर्जित नेत्रोंसे निरंतर आनंदसे देखताहुआ संयमी (योगी) होयतो यह शांभवी मुद्रा होती है और तंत्रके ज्ञाता गिरीश (शिव) नें यह गुप्त रक्खी है और यह दुर्लभमुद्रा तत्त्वके अभिलाषी योगिजनोंके मनको लय करती है और मुक्तिको भली-प्रकार देती है और ऊर्द्ध और अधोदृष्टि होकर और ऊर्द्धवेध और अधः-शिर होकर स्थित योगी इस राधायंत्रके विधानसे भूमिमें रहताहुआभी जीवन्मुक्त होता है-भावार्थ यह है कि, भीतरके लक्ष्यमें लयहुये हैं चित्त पवन जिसके और निश्चल हैं तारा जिसके ऐसी दृष्टिसे बाहिरके विषयको देखताहुआभी न देखनेके समान हो ऐसे योगीकी यह शांभवीमुद्रा होती है यदि यह गुरुके प्रसादसे प्राप्त हो जाय तो योगीको, शून्य अशून्यसे विलक्षण जो शंभुका पदरूप परम तत्त्व है वह प्रतीत होता है ॥ ३७ ॥

मूल–श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–इस पूर्वोक्त श्रीमती शांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके द्वारा अवस्था और धाम (स्थान) के भेदसे अर्थात् शांभवीमुद्रामें बाहिर दृष्टिसे बहिःस्थिति और खेचरीमुद्रामें भ्रुकुटीके मध्यमें दृष्टिसे स्थिति होती है और शांभवीमें हृदय, भावनाका देश है और खेचरीमें भ्रुकुटिका मध्यही देश है इन दोनों भेदोंसे देश काल वस्तुके परिच्छेदसे और सजा-

---

१ अंतर्लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी दृष्टयुन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छांभवी । गुप्तेयं गिरिशेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा ॥ ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधः-शिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ ।

तीय विजातीय स्वगतरूप भेदसे शून्य (रहित) चिदानंद स्वरूप आत्मामें चित्तके लयका आनंद होता है अर्थात दोनों शांभवी खेचरीमुद्राओंका अवस्था और धामरूप साधन अंशमें तो भेद है और चित्तलयके आनंदरूप फलके अंशमें भेद नहीं है ॥ ३८ ॥

मूल–तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ ॥
पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–अब उन्मनीमुद्राका वर्णन करते हैं कि,नेत्रोंकी कनीनिकारूप तारोंको ज्योतिमें अर्थात तारोंको नासिकाके अग्रभागमें संयोग करनेसे प्रकाशमान जो तेज उसमें संयुक्त करके भ्रुकुटियोंको किंचित (कुछेक) ऊपरको करदे और पूर्वोक्त जो अंतः लक्ष्य बहिः दृष्टि (भीतर लक्ष्य बाहिर दृष्टि) रूप योग है जिसमें ऐसा अंतः–करण (मन) उसको युक्त करता हुआ योगी क्षणमात्रमें उन्मनी अवस्थाका कारक होताहै अर्थात पूर्वोक्त अवस्थासे स्थित योगीकी उन्मनीमुद्रा होती है ॥ ३९ ॥

मूल–केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥ ४० ॥

भाषार्थ–अब इसका वर्णन करते हैं कि, उन्मनीके विना अन्य तरणेका उपाय नहीं है कि, कोई शास्त्र और तंत्र आदिके ज्ञाता आगमके जालसे अर्थात जिससे बुद्धिमें पदार्थ आजाय उन्हे आगम कहते हैं वे शास्त्र और तंत्ररूपोंके समूहसे मोहको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् जालके समान बंधनके कर्ता जो शास्त्रतंत्रमें कहेहुये फल उनमेंही मोहित रहते हैं उनमें आसक्त हुये बंध जाते हैं–और कोई निगम (वेद) में कहे जो फलोंके समुदाय उनसेही मोहित रहते हैं–और कोई वैशेषिक आदि अपनी कल्पना कियेहुये रूप जो युक्ति विशेषतर्क उनसेही मोहित रहते हैं–परंतु तारकको नहीं जानते हैं अर्थात् संसारसमुद्रके तरनेका उपाय जो पूर्वोक्त उन्मनी उसको नहीं जानते हैं–भावार्थ यह है कि, कोई शास्त्र और तंत्रके जालसे

कोई वेदोक्त फलोंसे—कोई तर्कसे—मोहित रहते हैं परंतु उन्मनीरूप तारकको नहीं जानते हैं ॥ ४० ॥

मूल—अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पंदभावेन यः ॥
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं तत्त्वं
तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥

भाषार्थ—आधे उन्मीलित (खोले) किये हैं नेत्र जिसने और निश्चल हैं मन जिसका और नासिकाके बारह अंगुलपर्यंत अग्रभागमें लगाये हैं नेत्र जिसने—सोई वसिष्ठने कहाहै कि, द्वादश अंगुल पर्यंत निर्मल जो नासिकाके अग्रभागमें आकाश उसमें यदि ज्ञान, दृष्टि दोनों भलीप्रकार शांत होजाय तो प्राणोंका स्पंद (गति) रुक जाती है—ऐसायोगी और देह इंद्रिय मन इनके निस्पंदभाव (निश्चलता) से चंद्रमा और सूर्यकी भी लीनताको करताहुआ अर्थात देह, मन, इंद्रियोंकी निश्चलतासे प्राणके संचारको भी रोकता हुआ सोई कहभी आये हैं कि, जहां मनभी विलय हो जाता है—इसपूर्वोक्त प्रकारका योगाभ्यासी ज्योतिके समान सबका प्रकाशक— और आकाश आदिकी उत्पत्तिके द्वारा सबका कारण और अखिल (पूर्ण) रूप और अत्यंत प्रकाशमान और देह इंद्रिय मन इनका साक्षीरूप पर—और वास्तविक तत्त्वरूप—जो वह पद है जिसको यह नहीं कह सकते कि,—वह यह है—और योगीजन जिसमें जाय उसे पद कहते हैं—उस परम (सबसे उत्तम) आत्मस्वरूपको प्राप्त होताहै अर्थात उन्मनी अवस्थामें योगी अपने स्वरूपमें स्थित होताहै—इसमें अधिक और क्या कहने योग्य है अन्यवस्तुओंकी तो अवश्यही प्राप्ति होती है—भावार्थ यह है कि, जिसके आधे नेत्र खुले हो मन स्थिरहो नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि हो और जिसने देह आदिकी निश्चलतासे प्राणकोभी लीनकरालियाहो

१ द्वादशांगुलपर्यंते नासाग्रे विमलेंबरे । संविद्दृशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो निरुध्यते ।

ऐसा योगी, ज्योतिस्वरूप सबके कारण, पूर्ण, देदीप्यमान साक्षीरूप जो तत्त्व उस परमपदको प्राप्त होताहै इसमें अधिक क्या कहने योग्यहै॥४१॥

मूल–दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–अब उन्मनीभावनामें कालके नियमका अभाव वर्णन करते हैं कि दिनमें अर्थात् सूर्यके संचारमें लिंगका पूजन न करै अर्थात सबके कारण लिंगरूप आत्माका ध्यान करै सोई कहाहै कि,इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ और यहां ध्यानही पूजनशब्दसे लेना पुष्प आदिसे पूजन नहीं सोई वासिष्ठमें वसिष्ठजीने कहाहै कि, आत्माका उपहार (भेट) ध्यानही है और ध्यानही इसका अर्चन (पूजा) है इसके विना यह आत्मा प्राप्त नहीं होता है और रात्रिमें अर्थात चंद्रमाके संचारमेंभी लिंगरूप आत्माका पूजन न करै क्योंकि, चंद्र और सूर्यके संचारमें चित्तकी स्थिरता नहीं रहती है कहभी आये हैं कि प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होजाताहै और दिवा और रात्रिके निरोधको करके सबकालमें लिंगका पूजन करै क्योंकि सूर्य और चंद्रका निरोध होनेपर प्राण सुषुम्नाके अंतर्गत होजाताहै और उससे मनकी स्थिरता होजाती है उससमय लिंगरूप आत्मका ध्यान करै सोई कहा है कि, सुषुम्नाके अंतर्गत सूर्यके होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है-भावार्थ यहहै कि, सूर्य और चंद्रमाके संचारमें आत्माका ध्यान करै और सूर्य और चंद्र संचारको रोककर सबकालमें आत्माका ध्यान करै ॥ ४२ ॥

मूल–सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥४३॥

भाषार्थ–अब खेचरीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, इडा पिंगला नामकी

---

१ एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। २ ध्यानोपहारएवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम्। विनातेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव न। ३ सुषुम्नांतर्गते भानौ मनःस्थैर्यं प्रजायते।

जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनमें स्थित प्राणवायु जिस मध्य प्रदेशमें गमन करताहै उसी स्थानमें खेचरीमुद्रा स्थिर होजाती है इसमें संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

मूल–इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनःपुनः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–इडा पिंगला जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनके मध्यमें जो शून्य (आकाश) है वह शून्य जिसमें प्राणावायुको ग्रस ले और शून्यमें प्राणकी जो स्थिरता उसकोही ग्रास कहते हैं उसशून्यमें खेचरीमुद्रा स्थिर होती है यह बात वारंवार सत्य है ॥ ४४ ॥

मूल–सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी॥४५॥

भाषार्थ–सूर्य और चंद्रमा अर्थात् इडा और पिंगलाके मध्यमें जो निरालंब अंतर(अवकाश)है उस आकाशोंके समुदायरूप चक्रमें क्योंकि, भ्रुकुटिके मध्यमें सब आकाशोंका समन्वय (मेल) है सोई कहाहै कि, पांच स्रोतोंसे युक्त भ्रूका मध्य है उस उक्त अवकाशमें जो भलीप्रकार स्थित हो वह खेचरी नामकी मुद्रा होती है ॥ ४५ ॥

मूल–सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–जिस खेचरीमुद्रामें चंद्रमासे अमृतकी धारा उत्पन्न होती है वह खेचरीमुद्रामें साक्षात् शिवजीको वल्लभ (प्यारी) है और अतुल अर्थात् जिसकी उपमा न हो और दिव्यरूप अर्थात् सब नाडियोंमें उत्तम जो सुषुम्ना है उसको पश्चिम मुखके विषे जिह्वासे पूर्ण करे ॥ ४६ ॥

मूल–पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–और पूर्वमुखके विषेभी पूर्ण करै अर्थात् सुषुम्नाको प्राणसे पूर्ण करै तो निश्चयसे अर्थात् निःसंदेह खेचरी नामकी मुद्रा होती है और यदि पूर्वमुखमें प्राणसे पूर्ण न करै और पश्चिम मुखमें केवल जिह्वासेही पूर्ण करदे तो खेचरीमुद्रा मूढ अवस्थाको पैदा करती है इससे वह निश्चित नहीं है और अभ्यास कीहुई खेचरीमुद्राभी उन्मनी होजाती है अर्थात् चित्तके ध्येयाकार होनेसे तुर्यावस्था होजाती है ॥ ४७ ॥

मूल–भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–दोनों भ्रुकुटियोंके मध्यमें शिवरूप ईश्वरका वा सुखरूप आत्माका स्थान है उस शिव वा आत्मामें मन लीन होताहै अर्थात् मनकी वृत्तिका प्रवाह शिवाकार होजाताहै और वह चित्तका लय तुर्य-पद अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिसे चौथा पद जानना और उस पदमें काल (मृत्यु) नहीं है अथवा सूर्य और चंद्रके निरोधसे अवस्थाके क्षयका कारक समय नहीं है सोई कह आये हैं कि, सुषुम्ना कालके भोगनेवाली है ॥४८॥

मूल–अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥४९॥

भाषार्थ–योगी जबतक योगनिद्रित हो अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो योग वह निद्रारूप जिसको हो वह योगनिद्रित कहाताहै तबतक खेचरीमुद्राका अभ्यास करै और जिस योगीको योगनिद्रा भली-प्रकार प्राप्त होगई हो उसकी किसी कालमेंभी मृत्यु नहीं होती ॥ ४९॥

मूल–निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥५० ॥

भाषार्थ–जो योगी निरालंब (निराश्रय) मनको करके किंचित् भी चिंता नहीं करताहै अर्थात् खेचरीमुद्राके सिद्ध होनेपर ब्रह्माकार

---

१ प्रबुद्धावह्नियोगेन मनसा मरुता सह ।

वृत्तिकाभी परमवैराग्यसे त्याग करताहै वह योगी बाहिर और भीतरके आकाशमें घटके समान निश्चयकर टिकताहै अर्थात जैसे घट आकाशके विषय बाहिर और भीतर आकाशसे पूर्ण होताहै तिसीप्रकार खेचरीमुद्राके होनेपर आलंबनके परित्यागसे योगीभी ब्रह्मसे पूर्ण टिकताहै ॥ ५० ॥

मूल–बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–खेचरीमुद्राके विषय देहसे बाहिरका पवन जिसप्रकार लीन होताहै, क्योंकि, उसकी भीतर प्रवृत्ति नहीं होती, तिसीप्रकार देहके मध्यका वायुभी लीन होजाताहै क्योंकि, उसकी बाहिर प्रवृत्ति नहीं होती इसमें संशय नहीं है किंतु मनसहित पवन प्राणकी स्थिरताका स्थान जो ब्रह्मरंध्र है उसमें निश्चलताको प्राप्त होजाताहै ॥ ५१ ॥

मूल–एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–इसपूर्वोक्त प्रकारसे प्राणरूप वायुका मार्ग जो सुषुम्ना उसमें रात्रिदिन अभ्यास करतेहुए योगीके अभ्याससे जिस आधारमें प्राणवायु जीर्ण होजाताहै अर्थात् लय होजाताहै उसीवायुके लयाधिष्ठान (स्थान) में मनभी लीन होजाताहै ॥ ५२ ॥

मूल–अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥
सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥

इति खेचरी।

भाषार्थ–योगी पादतल और मस्तक पर्यंत देहको सुखिर (चंद्रमा) से निकसे जो अमृत उनसे सेचन करै तो उत्तम है काया जिसकी और अधिक बल पराक्रम जिसके ऐसा योगी पूर्वोक्त अमृतके स्नानसे शुद्ध होजाताहै ॥ ५३ ॥

मूल–शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्यमें मनको धरकर अर्थात् कुंडलीके आकारका मनको करके और शक्तिको मनके मध्यमें करके अर्थात् शक्ति ध्यानके आवेशसे शक्तिको मनमें एककरके और उससे कुंडलीका बोधन करके सोई गोरक्षने कहा है कि, मन और पवन सहित कुंडली वह्निके योगसे प्रबुद्ध होती है और अंतः–करणरूप मनसे मनको देखकर अर्थात् मनसे देखनेके द्वारा बुद्धिको स्थिर करके सर्वोत्तम स्वरूप जो परमपद है उसकी धारणा करै अर्थात् ब्रह्ममें मनको लगावै ॥ ५४ ॥

मूल–खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥५५॥

भाषार्थ–आकाशके समान पूर्ण जो ब्रह्म उसके विषे अपने आत्माको करके अर्थात् ब्रह्म मैं हूं, ऐसी भावना करके अपने रूप स्वरूप आत्मामें पूर्ण ब्रह्मको करो–मैं ब्रह्महूं ऐसी भावना कर, और संपूर्ण प्रपंचको ब्रह्ममय करके अर्थात् ब्रह्मरूप विचारकर किसीकीभी चिंता न करै अर्थात् मैं ब्रह्महूं इस ध्यानकाभी परित्याग करदे ॥ ५५ ॥

मूल–अंतःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ॥
अंतःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार समाधिमें स्थित योगीकी अपने स्वरूपमें स्थिति का वर्णन करते हैं कि, अंतःकरणमें शून्यहो अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त वृत्तिके अभावसे दूसरेकी प्रतीति न होती हो और दूसरेके न देखनेसे अंतःकरणसे बाहिरभी इसप्रकार शून्य हो जैसे आकाशमें स्थित घट भीतर और बाहिर जलसे शून्य होता है–और तिसी प्रकार हृदयके आकाशरूप अंःतकरणमें ब्रह्माकार वृत्तिके होनेसे वा ब्रह्मकी वासनासे, वायुसे पूर्ण हो और अंतःकरणसे वा हृदयाकाशसे बाहिरभी पूर्ण हो अर्थात् सत्तारूपसे वा

ब्रह्मातीरिक्त वृत्तिके अभावसे वा ब्रह्मरूपसे इसप्रकार पूर्ण हो जैसे समुद्रके विषे डुबा हुआ कुंभ चारोंतरफसे जल पूर्ण होता है—इसीप्रकार समाधिमें स्थित पुरुषभी ब्रह्मसे पूर्ण होता है ॥ ५६ ॥

मूल—बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम् ॥
सर्वचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत ॥५७॥

भावार्थ—समाधिमें स्थित योगी बाहिरके माला चंदन आदि विषयोंकी चिंता न करै और तिसीप्रकार अंतःकरणमें मनसे कल्पना किये जो आशामोदक, श्वेतमंदिर, वाटिका आदि हैं उनका भी चिंतन न करै इसप्रकार बाहिरभीतरकी संपूर्ण चिंताओंका परित्याग करके किंचित्की भी चिंता न करै अर्थात् परमवैराग्यसे ब्रह्मकारवृत्तिकाभी परित्याग करदे क्योंकि ब्रह्माकारवृत्तिका त्याग अपने स्वरूपमें स्थितिरूप मुक्ति जीवन समयमें ही हो जाती है ॥ ५७ ॥

मूल—संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥ संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्पमाश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥

भावार्थ—बाह्य और आभ्यंतर चिंताओंके परित्यागसे शांति भी होती है इसमें वसिष्ठके वाक्यका प्रमाण देते हैं कि, मानसिक व्यापाररूप जो संकल्प है उसकी रचना रूपही यह दृश्यमान संपूर्ण जगत् है अर्थात बाह्य प्रपंच मनसेही कल्पित है और आशामोदक श्वेतमंदिर वाटिकाआदि नाना प्रकारके विषयोंकी कल्पनाका जो विलास है वहभी संकल्पकीही रचनाहै अर्थात मानसप्रपंचभी संकल्पकीही रचनारूप है इससे हेराम ? संकल्प मात्रमें जो मति अर्थात बाह्य और आभ्यंतरके प्रपंचम जो सत्यत्व बुद्धि है उसको त्याग दे कदाचित् कहो कि, फिर क्या करूं इससे कहतेहैं कि, निर्विकल्पके आश्रय होकर अर्थात आत्माके विषे जो कर्ता भोक्ता सुखी

दुःखी—सजातीय विजातीय—स्वगत भेद—देश काल वस्तु परिच्छेदरूप विशिष्ट कल्पना हैं उनसे रहित जो निर्विकल्परूप अर्थात् पूर्वोक्त विशिष्ट कल्पनासे शून्य आत्मा है उसकोही धारणाका विषय करके हे राम ! निश्चयसे तू शांतिको प्राप्त हो उस शांतिसे फिर सुखको भी प्राप्त हो जायगा—सोई भगवान्ने गीतामें कहा[१] है कि विचार हीन पुरुषको शांति नहीं होती है और अशांत मनुष्यको सुख कहांसे होताहै ॥ ५८ ॥

मूल—कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ॥
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—जैसे कपूर अग्निमें संयोग करनेसे विशेषकर लीन होता है अर्थात् अग्निके आकार हो जाताहै और जैसे जलमें संयुक्त किया सैंधव लवण विलीन होताहै अर्थात् लवणके आकारको त्यागकर जलाकार होजाता है—तिसी प्रकार तत्त्वरूप आत्मामें संयुक्त किया मन विलीन होता है । अर्थात् आत्माकार हो जाता है ॥ ५९ ॥

मूल—ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥६०॥

भाषार्थ—अब मनके लय होनेपर द्वैतकाभी लय वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो ज्ञेय (ज्ञानके योग्य) अर्थात् ज्ञात प्रतीयमान है और ज्ञान यह सब मन कहाता है क्योंकि ये सब मनकी कल्पनामात्र हैं यदि ज्ञान और ज्ञेय मनसहित नष्ट हो जांय तो दूसरा मार्ग नहीं है अर्थात् मनका विषय जो द्वैत है वह नहीं रहता है ॥ ६० ॥

मूल-मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ॥
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—यह दीखता हुआ जो स्थावर जंगम (चराचर) रूप

---

१ नचाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतःसुखम् ।

सहित जगत् जो कुछ है वह सब मनसे देखने योग्य है अर्थात मनसे कल्पित है अर्थात् मनकी कल्पना होनेपर प्रतीत होताहै और कल्पनाके अभावमें प्रतीत नहीं होताहै इससे भ्रमरूपही है और भ्रमका शरीर प्रतीतिमात्र होता है–कदाचित् कहो कि, ऐसे कहोगे तो बौद्धमतका प्रसंग होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि,भ्रमके अधिष्ठान ब्रह्मको सत्य मानतेहैं–और उक्त मनके उन्मनीभाव (विलय)से द्वैत (भेद) प्रतीतही नहीं होताहै क्योंकि,द्वैत भ्रमका हेतु जो मनका संकल्प है उसका अभाव है ॥ ६१ ॥

मूल--ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–ज्ञानका विषय जो चराचररूप दृश्य है उसके परित्यागसे अर्थात् नामरूपात्मक जगतके वर्जित करनेसे मन विलयको प्राप्त होजाता है अर्थात् सच्चिदानंदरूप आत्माकार होजाता है और मनका विलय होनेपर कैवल्य शेष रहजाता है अर्थात अद्वितीय आत्मारूपही शेष रहता है ॥ ६२ ॥

मूल–एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः॥६३॥

भाषार्थ–इसप्रकार नानाप्रकारके उपाय (साधन) हैं-जिनके और भलीप्रकार जो अर्थात संशय और विपर्ययसे रहित अनुभव उससे युक्त चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिके मार्ग अर्थात प्राप्तिके उपाय पहिले महात्मा आचार्योंने कहे हैं अर्थात् समाधिके अभ्याससे महान् (शुद्ध) है आत्मा (अंतःकरण) जिनका ऐसे महात्मा मत्स्येंद्र आदि पूर्वाचार्योंने अपने अनुभवसे पूर्वोक्त समाधिके मार्ग वर्णन किये हैं ॥ ६३ ॥

मूल–सुषुम्नायै कुंडलिन्यै सुधायै चंद्रजन्मने ॥
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने॥६४॥

भाषार्थ–सुषुम्ना आदि नाडियोंसे कृतकृत्य हुये आचार्य उनको प्रणाम करते हैं कि, मध्यनाडीरूप सुषुम्नाको और आधारशक्तिरूप कुंडलिनीको और चंद्रमासे है जन्म जिसका ऐसी सुधाको और तुर्यावस्थारूप उस मनोन्मनीको नमस्कार है जो मनोन्मनी देह इंद्रिय मनरूप जो जड पदार्थ है उनकोभी चेतनताकी संपादक होनेसे सबसे बडी शक्ति (चित् शक्ति पुरुष) रूप है और जो चेतन आत्मा स्वरूप है-इस श्लोकमें तुमको नमस्कार है इस पदका सर्वत्र संबंध है ॥ ६४ ॥

मूल--अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–अनेकप्रकारके समाधिके उपायोंको कहकर नादानुसंधान रूप मुख्य जो उपाय है उसके वर्णनकी प्रतिज्ञा करतेहैं कि, अव्युत्पन्न (मूर्ख) होनेसे जिनको तत्त्वज्ञान अशक्य है उन मूढोंकोभी जो संमत है और अपिशब्दसे पठित मनुष्योंको तो संमत क्यों न होगा ऐसे गोरक्षनाथके कहेहुये नादोपासन अर्थात् अनाहतध्वनिका सेवन वर्णन करते हैं और यह नादका अनुसंधान गोरक्षनाथ महान् पुरुषने कहाहै इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६५ ॥

मूल--श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः
कथिता जयंति ॥ नादानुसंधानकमेकमेव
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने सवाकरोड चित्तके लयके प्रकार कहे हैं और वे सर्वोत्तम रूपसे वर्तते हैं हम तो एक नादानुसंधान (नादकासेवन) कोही केवल अत्यंत मुख्य लयके साधनोंमें मानते हैं क्योंकि, वह सबसे उत्तम है और गोरक्षनाथको अभिमत है इससे अवश्य करने योग्यहै ॥ ६६ ॥

मूल--मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ॥
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतःस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–अब शांभवीमुद्रासे नादानुसंधानका वर्णन करते हैं कि,मुक्तासन सिद्धासनमें स्थित योगी भीतर लक्ष्य और बाहिर दृष्टि इत्यादि ग्रंथसे कहीहुई शांभवीमुद्राको करके और एकाग्रचित्त होकर दक्षिणकर्णके विषे सुषुम्नानाडीमें वर्तमान जो देहके भीतरका शब्द है उसको सुने सोई त्रिपुरसारसमुच्चयमें कहाहै कि,तारके संस्कारका कर्ता नाद प्रथमतो उन्मत्त भ्रमरोंके समूहका जो शब्द उसके समान और फिर पवनसे भरेहुये शोभित वंशके शब्दकी तुल्य और फिर घंटाके शब्द समान और समुद्रके शब्दकी तुल्य धीर और फिर गर्जतेहुये मेघका जो शब्द उसके समान गंभीर ऐसा पूर्वोक्त नाद इस देहमें सुषुम्नानाडीके छिद्रमें वर्तताहै ॥ ६७ ॥

मूल–श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्॥
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः॥६८॥

भाषार्थ–अब पराङ्मुखीनाडीसे नादके अनुसंधानका वर्णन करते हैं कि, कर्ण और नेत्र और घ्राण इन तीनोंके युगल (दोनोंछिद्र) और मुख इनका निरोध करै अर्थात हाथकी अंगुलियोंसे इनको रोकै और निरोधभी इस वचनके अनुसार करै कि, अंगुष्ठोंसें दोनों कानोंका और तर्जनीयोंसे दोनों नेत्रोंका और मध्यमाओंसे नासापुटोंका और चकारके पढनेसे तर्जनियोंसे मुखका आच्छादन करै इसप्रकारका इंद्रियोंका निरोध करनेसे प्राणायामोंसे मलरहित जो सुषुम्नाका मार्ग है उसमें स्फुट(प्रत्यक्ष) अमल (स्पष्ट) नाद सुनताहै ॥ ६८ ॥

---

१ आदौमत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः । घंटानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरा गभीरो गर्जत्पर्जन्यघोषे पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्याः ।

२ अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि च ।

मूल—आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥६९ ॥

भाषार्थ—अब नादको चार अवस्थाओंका वर्णन करतेहैं कि,आरंभ-अवस्था—घटावस्था—परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ये चारअवस्था संपूर्ण चित्तवृत्तिके निरोधरूपयोगोंमें होतीहै अर्थात् शांभवीमुद्रादिकोंमें ये चारही अवस्था होती हैं ॥ ६९ ॥

अथारंभावस्था—

मूल—ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतःश्रूयते ध्वनिः॥ ७० ॥

भाषार्थ—उन चारोंमें आरंभावस्था जो सबसे प्रथम है उसका वर्णन करतेहैं कि, अनाहतचक्रमें वर्तमान ब्रह्मग्रंथिका जब प्राणायामोंके अभ्यासे भेद होताहै तब आनंदका उत्पादक और हृदयाकाशरूप शून्यमें उत्पन्न—और अनेकविध और भूषणोंके शब्दकी तुल्य—अनाहत अर्थात विना ताडनासे उत्पन्न ध्वनि (शब्द) देहके मध्यमें सुनता है—इस श्लोकमें क्वणकशब्दसे भूषणोंका शब्द—इस अमरके श्लोकसे लेना कि, भूषणोंके शब्दको शिंजित निक्काण—निक्वण क्काण—क्वण—क्वणन कहतेहैं[1] ॥ ७० ॥

मूल—दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ॥
संपूर्णहृदयः शून्य आरंभो योगवान्भवेत् ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—हृदाकाशरूप शून्यमें जो आरंभ (नादका प्रारंभ) होनेपर अर्थात यदि हृदयमें नादकी प्रतीत होय तो-प्राणवायुसे भलीप्रकार पूर्ण है हृदय जिसका और आनंदसे पूर्ण हृदयके होनेपर योगी-रूपलावण्यसे संपन्नरूप दिव्य देह होताहै और तेजस्वी (प्रतापी) और उत्तम गंधवान् और रोगोंसे रहित होताहै यहां शून्यसे हृदयाकाश इसलिये कहाहै कि,

---

१ भूषणानांतु शिंजितम् । निक्काणो निक्काणः क्काणः क्वणः क्वणनमित्यपि ।

हृदाकाश विशुद्धाकाश भ्रुकुटिमध्यका आकाश इन तीनोंका क्रमसे शून्य अतिशून्य-महाशून्य शब्दोंसे व्यवहार योगीजन करते हैं ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था--

मूल—द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—अब घटावस्थाको कहते हैं कि, दूसरी घटावस्थामें प्राण-वायु अपने संग अपान और नाद बिंदु इनको एक करके कंठस्थानके विषे वर्तमान जो मध्यचक्र उसमें गतहो (पहुंच) जाता है सोई जालंधर बंधमें कह आये हैं[१] कि, सोलह आधारहैं बंधन जिसका ऐसा यह मध्यचक्र जानना अर्थात् जब यह पूर्वोक्त अवस्था होजाय तो योगी उस अवस्थामें दृढ (स्थिर) आसन और ज्ञानी अर्थात पूर्वकी अपेक्षासे कुछ बुद्धि और रूप लावण्यकी अधिकतासे देवतुल्य होजाताहै सोई ईश्वरोक्त राजयोगमें कहाहै कि, जिससे[२] प्राण अपान नाद बिंदु जीवात्मा परमात्मा इनको मिल कर यह घटतीहै तिससे घटावस्था कहाती है ॥ ७२ ॥

मूल--विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ॥
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—फिर ब्रह्मग्रंथिभेदनके अनंतर कंठके विषे वर्तमान जो विष्णु ग्रंथि है उसके भेदसे अर्थात कुंभकप्राणायामोंसे विष्णुग्रंथिके खुलनेपर होनेवाला जो परमानंद (ब्रह्मानंद) है उसका सूचक (ज्ञापक) अति-शून्यरूप कंठाकाशमें विमर्द अर्थात भेरीके शब्द समान अनेकनादोंका संमर्द और भेरीका शब्द उस समय होतेहैं ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था—

मूल—तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायो मर्दलध्वनिः ॥
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

---

१ मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् । २ प्राणापानौ नादबिंदू जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥

भाषार्थ—अब अढाई श्लोकोंसे परिचयावस्थाका वर्णन करते हैं कि, तीसरी परिचयावस्थामें भ्रकुटिके मध्यरूप आकाशमें मर्दलनाम वाद्यविशेष (ढोल) की ध्वनि विशेष करके जाननी और उस अवस्थामें प्राणवायु-संपूर्ण अणिमा आदि सिद्धियोंका समाश्रय जो (स्थान) महाशून्य है, भ्रूमध्याकाशरूप उसमें पहुंच जाता है क्योंकि महाशून्यमें वायुका संयम करनेसे अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

मूल--चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥

भाषार्थ—और उस योगीका नादका विषय जो अंतःकरणकी वृत्ति है उससे उत्पन्नरूप जो चित्तका आनंद है उसका तिरस्कार करनेके अनंतर स्वाभाविक आत्मसुखरूप जो सहजानंद है उसका आविर्भाव (प्रकटता) होता है-फिर वह योगी वातपित्तकफरूप दोषोंका दुःख, वृद्ध अवस्था, और आध्यात्मिक दुःख, और ज्वर आदि व्याधि-क्षुधा (भोजनकी इच्छा) निद्रा-इनसे विवर्जित उस समय होता है ॥ ७५ ॥

मूल—रुद्रग्रंथिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत्॥७६॥

भाषार्थ—जिस समय-प्राण-उस रुद्रग्रंथिका भेदन करके जो रुद्रग्रंथि आज्ञाचक्रमें होती है शर्व (ईश्वर) का पीठ (स्थान) जो भ्रुकुटिका मध्य है उसमें प्राप्त होजाताहै—अब निष्पत्तिअवस्थाका वर्णन करते हैं कि, निष्पत्तिअवस्थामें अर्थात् प्राणके ब्रह्मरंध्रमें पहुंचनेपर ऐसा वेणु-(वंश) के शब्दकी तुल्य शब्द होता है जैसा शब्द करतीहुई वीणाका शब्द होता है ॥ ७६ ॥

मूल--एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥

भावार्थ—उस निष्पत्तिअवस्थामें चित्त एकीभूत होजाता है अर्थात् विषय और विषयी (ज्ञान) इनका अभेद (एकता) होनेसे राजयोग है नाम जिसका ऐसा यह चित्त होजाता है क्यों कि, चित्तकी एकाग्रताकोही राजयोग कहते हैं और वह योगी सृष्टि और संहारका कर्ता ईश्वरके समान होजाता है अर्थात् नादके अनुसंधानसे रचना और संहारके कर्ता ईश्वररूप होजाताहै ॥ ७७ ॥

मूल--अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम् ॥
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥

भावार्थ—यद्यपि इन दोनों श्लोकोंका अर्थ पहिले लिख आये हैं तथापि यहांभी किंचित् लिखते हैं कि, मुक्तिहो वा मत हो इस नादानुसंधान करनेमेंही अखंड सुख होता है और लयसे उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोगसे प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

मूल--राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ॥
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥

भावार्थ—और जो योगी राजयोगको नहीं जानते हैं और हठयोगकी क्रियाको करते हैं उन अभ्यासियोंको मैं परिश्रमके फलसे वर्जित मानताहूं अर्थात् उनको हठयोगका फल नहीं होता है ॥ ७९ ॥

मूल–उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ॥
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥८०॥

भावार्थ—उन्मनीअवस्थाकी शीघ्र प्राप्तिकेलिये मुझ स्वात्मारामयोगीको भ्रुकुटियोंके मध्यमें जो ध्यान है वह संमतहै और सबयोगोंका राजारूप जो राजयोग है उस तुर्यअवस्थानामके राजयोगकी प्राप्तिके लिये पूर्वोक्त भ्रुकुटियोंका ध्यानही अल्पबुद्धियोंके लिये सुख (सरल) उपाय

है–और नादसे उत्पन्नभया जो चित्तका विलय है वह शीघ्रही प्रतीतिको करनेवाला होता है ॥ ८० ॥

मूल–नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ॥ आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ ८१ ॥

भाषार्थ--अनाहतध्वनिरूप जो नाद है उसके अनुसंधान (स्मरण) से जो चित्तके एकाग्रतारूप समाधि है उसके कर्ता जो योगीश्वर (योगियोंमें जो उत्तम) है उनके हृदयमें बढताहुआ और वाणी जिसको 'यह है' इसप्रकार नहीं कहसकती है–ऐसा जो योगशास्त्रमें प्रसिद्ध एक (मुख्य) आनंद होता है एक श्रीगुरुनाथ अर्थात् श्रीयुत गुरुस्वामीही जानते हैं–इससे यह सूचित किया कि नादके अनुसंधानका आनंद गुरुकी दयासेही प्रतीत हो सकता है अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

मूल–कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ॥ तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत्॥८२॥

भाषार्थ–नादके अनुसंधानसे प्रत्याहार आदिके क्रमसे समाधिका वर्णन करतेहैं कि मननका कर्ता योगी हाथोंके अंगूठोंसें कर्णोंको ढककर अर्थात् अंगूठोंको कर्णोंके छिद्रोंमें लगाकर जिस अनाहतध्वनिको सुनताहै उस अनाहतध्वनिमें अस्थिरभी चित्तको तबतक स्थिर करै जबतक तुर्यावस्थारूप स्थिरपदको प्राप्त न हो–सोई कहाहै कि, तुर्यावस्था, चेतनका अभिव्यंजक (ज्ञापक) जो नाद उसका ज्ञानरूप है और नादके अनुसंधानसे वायुकी स्थिरता और अणिमा आदि सिद्धिभी होतीहै–और त्रिपुरसारसमुच्चयमेंभी कहाहै कि जिस योगीके देहमें स्वाभाविक नाद भलीप्र-

१ तुर्यावस्थाचिदभिव्यंजकनादस्य वेदनंप्रोक्तमिति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोपि भवंतीति । २ विजितोभवतीहतेनवायुः सहजोयस्य समुत्थितःप्रणादः । अणिमादिगुणाभवंति तस्यामितपुण्यंच महागुणोदयस्य॥ सुरराजतनूजवैरिरंध्रे विनिरुध्य स्वकरांगुलिद्वयेन । जलधेरिवधीरनादमंतः प्रसरंतं सहसाशृणोतिमर्त्यः ॥

कार उठताहै वह वायुको जीतलेताहै और उसको अणिमा आदिगुण, और उस महोदयको अतुल पुण्य होतेहैं, अपने हाथकी दो अंगुलियोंसे कर्णोंके छिद्रोंको रोककर–समुद्रके समान धीर जो नाद देहके भीतर फैलाताहै उसको मनुष्य (योगी) शीघ्रही सुनताहै ॥ ८२ ॥

मूल–अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥८३॥

भाषार्थ–अभ्यास कियाहुआ अर्थात् अनुसंधान किया यह नाद बाहिरका जो शब्द है उसका आवरण करताहै अर्थात् बाह्यके शब्दकोभी योगी सुनलेताहै और वह नादका अभ्यासी योगी एक पक्षभरसेही चित्तकी चंचलतारूप संपूर्ण विक्षेपको जीतकर सुखी होताहै अर्थात् आत्मानंदरूप सुखको प्राप्त होताहै ॥ ८३ ॥

मूल–श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ॥
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥८४॥

भाषार्थ–प्रथम २ के अभ्यासमें अनेकप्रकारका अर्थात समुद्र मेघ भेरीके शब्दकी तुल्य महान् (भारी) नाद सुना जाताहै और उसके अनंतर अभ्यासके होनेपर सूक्ष्म २ शब्द सुना जाताहै ॥ ८४ ॥

मूल–आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ॥
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–अब दो श्लोकोंसे नाना प्रकारके नादका वर्णन करतेहैं कि, प्रथम २ प्राणवायुके ब्रह्मरंध्रमें गमनसमयमें समुद्र, मेघ भेरी (धोंस) जो बाजे हैं और झर्झरी (झांझ) जो वाद्यविशेष है उनके शब्दके समान शब्द ब्रह्मरंध्रमें सुने जातेहैं और मध्यमें अर्थात सुषुम्नामें प्राणवायुकी स्थिरताके अनंतर मर्दल, शंख, इनके शब्दकी तुल्य शब्द सुने जातेहैं और तिसप्रकार घंटाका और हलनामके जो बाजेहैं उनके शब्दकी सदृश शब्दभी प्रतीत होतेहैं ॥ ८५ ॥

मूल–अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ॥
इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–फिर प्राणकी ब्रह्मरंध्रमें स्थिरताके अंतमें किंकिणी वंश–वीणा–भ्रमर इनके शब्दकी तुल्य शब्द सुनेजातेहैं–इस प्रकार देहके मध्यमें नाना प्रकारके शब्द सुनेजातेहैं ॥ ८६ ॥

मूल–महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–मेघ, भेरी, आदिका जो महान् शब्द है उसकी तुल्य शब्दके सुननेपरभी उन शब्दोंमें सूक्ष्मसेही सूक्ष्म जो नाद है उसका चिंतन करै क्योंकि सूक्ष्मनाद चिरकालतक रहताहै उसमें आसक्त हुआहै चित्त जिसका ऐसा मनुष्यभी चिरकालतक स्थिरमति होजाताहै ॥ ८७ ॥

मूल--घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ॥
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥८८ ॥

भाषार्थ–मेघ, भेरी, आदिके महान् नादको त्यागकर सूक्ष्ममें वा सूक्ष्मनादको त्यागकर महान्नादमें रमण करतेहुये रजोगुणसे अत्यंत चंचल चित्तको अर्थात् महान्, सूक्ष्म, शब्दके ग्रहण वा परित्यागसे क्रीडा करतेहुये मनको चलायमान न करै–क्योंकि, विषयांतरोंमें आसक्त मन, समाधान, नहीं होसकताहै और नादमें रमताहुआ जो मन उसका समाधान होसकताहै ॥ ८८ ॥

मूल--यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–अथवा जिस किसी घन वा सूक्ष्म नादमें प्रथम मन लगै उसी नादमें भलीप्रकार स्थिर होकर उसी नादके संग लय होजाताहै–

यहां पूर्व वाक्यसे प्रत्याहार–दूसरेसे धारणा और तीसरेसे ध्यानके द्वारा समाधि कही है ॥ ८९ ॥

मूल–मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते ॥९०॥

भाषार्थ–जैसे मकरंद (पुष्पका रस) का पान करताहुआ भ्रमर, पुष्पके गंधकी अपेक्षा नहीं करताहै तिसीप्रकार नादमें आसक्त हुआ चित्त भी–अपने बंधनके कर्त्ता जो स्रक् चंदन आदि विषय हैं उनकी आकांक्षा नहीं करताहै यह निश्चितहै ॥ ९० ॥

मूल–मनोमत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ–शब्द आदि विषयरूप जो उद्यान उसमें विचरता हुआ जो मनरूप उन्मत्त गजेंद्र है उसके परावर्तन (लौटाना) में–यह नादरूप जो तीक्ष्ण अंकुशहै वही समर्थ है–इन श्लोकोंसे इंद्रियोंका विषयोंसे वह प्रत्याहार कहाहै जो इस श्लोकमें केहाहै कि विषयोंमें क्रमसे चरते हुये जो नेत्र आदि इंद्रिय हैं उनकी जो विषयोंसे निवृत्ति उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥ ९१ ॥

मूल--बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ॥
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥९२॥

भाषार्थ–नादरूप जो बंधनका साधनहै उससे अपनी शक्तिके अनुसार बंधनको प्राप्त हुआ मन अर्थात् नादकी धारणा आदिमें आसक्त हुआ चित्त और इसीसे भलीप्रकार त्यागदीहै क्षण २ में विषयोंका ग्रहणरूप चपलता जिसने ऐसा मन निरंतर स्थिरताको प्राप्त होता है अर्थात् धारणाको प्राप्त इस प्रकार होताहै जैसे छेदन किये हैं पक्ष जिसके ऐसा पक्षी होजाताहै इस श्लोकसे शुभ आश्रयमें चित्तका स्थापनरूप उस धारणाको

---

१ चरतांचक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्त्तितः ।

कहाहै जो इस [1]वचनमें कहाहै कि प्राणायामसे पवनको और प्रत्याहारसे इंद्रियोंको वशमें करके शुभाश्रय (ब्रह्मरंध्र) में चित्तकी स्थिरताको करै ॥ ९२ ॥

मूल–सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३ ॥

भाषार्थ–बाह्य और भीतरके जो संपूर्ण विषयहैं उनकी चिंताको त्यागकर सावधान (एकाग्र) चित्तसे राजयोगका अभिलाषी योगी नादकाही अनुसंधान करै अर्थात नादाकार वृत्तिका प्रवाह करै इससे वह चित्तकी प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान कहा जो इस [2]वचनमें कहाहै कि ब्रह्मरूप प्रत्ययकी जो एकाग्र (एकरस) संतति और अन्य विषयोंकी निःस्पृहा वह ध्यान हे नृप छः प्रथम अंगोंसे प्राप्त होताहै अर्थात् उसकी प्राप्तिके छः अंग कारणहैं ॥ ९३ ॥

मूल–नादोंतरंग सारङ्ग बंधने वागुरायते ॥
अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥

भाषार्थ–नाद अंतरंग (मन) जो सारंग मृग उसके बंधन (चंचलताका हरण) में वागुरा (मृगबंधनमें जाल) के समान है अर्थात जैसे वागुराके बंधनसे मृगकी चंचलता हरी जाती है इसीप्रकार नादभी मनकी चंचलताको अपनी शक्तिसे हरताहै और नादही अंतरंग (मन) हरिणके बंधनमें व्याधके समानहै अर्थात जैसे व्याध वागुरामें बंधेहुये मृगको हरताहै इसी प्रकार अपनेमें आसक्त हुये मनको नादभी हरताहै अर्थात नानावृत्ति जो मनमें उत्पन्न होती हैं उनको दूर करताहै ॥ ९४ ॥

---

१ प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेंद्रियम्। वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये । २ तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसंततिश्चान्यनिःस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षडभिर्निष्पाद्यते नृप ।

मूल—अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ ९५ ॥

भाषार्थ—और योगीजनका जो अंतरंग (मन) रूप वाजी है उसके परिघ अर्थात् घुडशालाके द्वारमें अवरोधक लोहदंडके समान नादहै निदान जैसे वाजिशालाका परिघ वाजीकी अन्यत्र गतिको रोकताहै इसीप्रकार नादभी मनकी अन्यत्र विषयादिकोंमें जो गति है उसको रोकै है इस कारणसे योगीजन निश्चय करके नादकी उपासनाका निश्चय करै ॥ ९५ ॥

मूल—बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ॥
मनः पारदमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥ ९६ ॥

भाषार्थ—नादरूप जो गंधक उससे जारण (भस्म) करनेसे अर्थात् नाद गंधकके संयोगसे चंचलताके हरनेसे बद्ध (एकनादमेंही आसक्त) और पाराके पक्षमें गुटिकारूप हुआ समझना और जारणसेही त्यागदी है विषयाकार परिणामरूप चांचल्य जिसने और पाराके पक्षमें त्यागदी है स्वाभाविक चंचलता जिसने वह समझना ऐसा मनरूप पारद (चंचलरूप) निरालंब नामके आकाशरूप अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें गमनको अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको प्राप्त होताहै और पाराके पक्षमें आकाश गमनको प्राप्त होना समझना तात्पर्य्य यहहै कि, इसप्रकार बंधा हुआ मन निरवच्छिन्न (एकरस) ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको करताहै ॥ ९६ ॥

मूल—नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥९७॥

भाषार्थ—अनाहत शब्दरूप नादके श्रवणसे शीघ्रही मनरूप भुजंगम (सर्प) यहां चपल और नादप्रिय होनेसे मनको भुजंगम समझना संपूर्ण विश्वका विस्मरण करके एकाग्र हुआ अर्थात् नादाकार वृत्ति प्रवाही होकर किसी विषयमें नहीं दौडताहै ध्यानसे पीछे कहे हुये श्लोकोंसे इस विष्णु

पुराणके वचन[1] और इस पातंजल[2] सूत्रमें क्रमसे कहीहुई समाधि और संप्रज्ञात समाधि कही है कि, उसकाही कल्पनाहीन जो स्वरूपका ग्रहण मनसे है वही ध्यानसे उत्पन्न होताहै और उसकोही समाधि कहते हैं उस आत्माकाही जो अर्थमात्र निर्भास स्वरूप शून्यके समानहै उसको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥ ९७ ॥

मूल–काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥

भाषार्थ–काष्ठमें प्रवृत्तकी अर्थात् जलाई हुई अग्नि ज्वालारूपको त्यागकर जैसे काष्ठके संग शांत होजाती है अर्थात् काष्ठरूप रहजाती है तिसीप्रकार नादमें प्रवृत्त किया चित्त नादके संग लीन होजाता है अर्थात् रजोगुणी, और तमोगुणी वृत्तियोंके नाशसे सत्तामात्र वा संस्कारमात्र शेष रहजाता है इसमें मैत्रायणीय शाखाका यह[3] मंत्र प्रमाण है कि जैसे इंधनरहित अग्नि अपने योनिरूप काष्ठमें शांत होती है इसीप्रकार वृत्तियोंके क्षयसे चित्तभी अपनी योनि (ब्रह्म) में शांत होजाता है ॥ ९८ ॥

मूल–घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥
प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ–घंटा आदि जिनके ऐसे जो शंख, मर्दल, झर्झर, दुंदुभी आदिके नाद हैं उनमें आसक्त और निश्चल जो अंतःकरणरूप मृग उसका प्रहारकरनाभी सुकर है यदि बाणके संधानमें मनुष्य प्रवीणहो यहां अंतःकरणका प्रहार नाना वृत्तियोंका प्रतिबंधरूप लेना और हरिणपक्षमें हनन लेना और बाणका संधानभी बाणके समान शीघगामी जो वायु

---

१ तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् । मनसा ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते । २ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

३ यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ।

उसका सुषुम्नामार्गसे ब्रह्मरंध्रमें प्रवेश करलेना और हारिणाग्रमें धनुषपर बाणका योजन (लगाना) लेना ॥ ९९ ॥

मूल–अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥१००॥

भाषार्थ--अनाहत अर्थात् विनाताडनाके उत्पन्न जो शब्द उसकी जो ध्वनी प्रतीत होती है, उसध्वनीके अंतर्गतही ज्ञेयरूप प्रकाशमान चैतन्य है और उस ज्ञेयके अंतर्गत अंतःकरणरूप मन है और उस ज्ञेयमेंही मन विलयको प्राप्त होता है अर्थात् परमवैराग्यसे संपूर्ण वृत्तियोंसे शून्य होकर संस्कारमात्र शेष रहजाता है और वही विष्णु (व्यापक) आत्माका परमपद है अर्थात् योगीजनोंकी प्राप्तिके योग्य अंतःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिसे रहित आत्मारूप है ॥ १०० ॥

मूल–तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १ ॥

भाषार्थ–इतने अनाहत ध्वनीरूप शब्द सुनेजाते हैं इतनीही आकाशकी भलीप्रकार कल्पना होती है क्योंकि शब्द आकाशरूप है और गुणगुणिका अभेद है और मन सहित जब शब्दका विलय होजाता है तब शब्द रहित जो परब्रह्महै वही परमात्मा शब्दसे कहाजाताहै अर्थात् संपूर्ण वृत्तियों का लय होनेपर जो स्वरूपसे स्थितहै वही परब्रह्म परमात्मास्वरूपहै॥ १॥

मूल–यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ २ ॥

भाषार्थ–जो कुछ नादरूपसे सुनाजाता है वह शक्तिही है और जिसमें तत्वोंका लय होता है वह निराकार परमेश्वर है अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका क्षय होनेपर जो स्वरूपावस्थित है वही आत्मा है–इन पूर्वोक्त पांचश्लोकोंसे राजयोगनामकी असंप्रज्ञातसमाधी कही है ॥ २ ॥

मूल–सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ ३ ॥

भाषार्थ–हठ ओर लयके जो संपूर्ण उपाय हैं अर्थात् आसन कुंभक मुद्रा आदि हठके उपाय और नादानुसंधान शांभवीमुद्रा आदि–लयके उपाय हैं वे संपूर्ण मनकी संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो राजयोग उसकी सिद्धिके लियेही कहे हैं और उस राजयोगमें भलीप्रकार आरूढ (प्राप्त) जो पुरुष है वह कालका वंचक अर्थात् मृत्युका जीतनेवाला होजाताहै ॥ ३ ॥

मूल–तत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ ४ ॥

भाषार्थ–तत्त्व (चित्त) ही बीज है. क्योंकि चित्तही उन्मनीअवस्थारूप जो अंकुर है उसके आकारसे परिणामको प्राप्त होताहै और प्राण अपानकी एकतारूप जो हठ है. वही क्षेत्रहै क्योंकि क्षेत्रके समान प्राणायाममेंही उन्मनीरूप कल्पलता उत्पन्न होती है और उदासीनता (परम वैराग्य) जलहै क्योंकि उदासीनताही उन्मनी कल्पलताकी उत्पत्तिका कारण है क्योंकि, असंप्रज्ञात समाधिका यह लक्षण कहा है कि, परम वैराग्यका हेतु जो चित्तका संस्कारविशेष है वही असंप्रज्ञात समाधि है–इन बीज, क्षेत्र, जल, रूप पूर्वोक्त तीनोंसे असंप्रज्ञात अवस्थारूप उन्मनी कल्पलता शीघ्रही उत्पन्न होजातीहै–संपूर्ण इष्टकी साधक होनेसे उन्मनीको कल्पलता कहते हैं ॥ ४ ॥

मूल–सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः ॥
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ ५ ॥

भाषार्थ–सदैव नादके अनुसंधानसे पापोंके समूह क्षीण होते हैं–और निर्गुण चैतन्यमें चित्त और पवन ये दोनों अवश्य लीन होजाते हैं अर्थात मन और प्राण इनदोनोंका ब्रह्ममें लयहोजाताहै ॥ ५ ॥

---

१ परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यासंप्रज्ञातः ।

मूल–शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ–अब आठश्लोकोंसे उन्मनीअवस्थाको प्राप्त जो योगी है उसकी स्थितिका वर्णन करतेहैं कि, वह योगी शंख–दुंदुभी–इनके शब्दको कदाचित्‌भी नहीं सुनता है यहां शंख दुंदुभी–शब्दमात्रके उपलक्षक हैं–और उन्मनीअवस्थासे देह काष्ठके समान चेष्टारहित होजाताहै ॥ ६ ॥

मूल–सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७ ॥

भाषार्थ–और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, मरण, रूप जो पांच व्युत्थानावस्था हैं उनसे विशेषकरके रहित होताहै और संपूर्ण चिंताओंसे विवर्जित जो योगी हैं अर्थात संपूण वृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित है वह जीवन्मुक्त है इसमें संशय नहीं है–क्योंकि संपूर्ण वृत्तियोंके निरोधमें आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होजाताहै सोई पातंजल सूत्रमें कहाहै कि, उससमय द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होताहै ॥ ७ ॥

मूल–खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥८॥

भाषार्थ–समाधिसे युक्त योगीको मृत्युभी भक्षण नहीं करता है और शुभ अशुभ रूप कियेहुये कर्मोंसे जन्म मरण आदि क्लेशभी नहीं होते हैं और न वह योगी किसी उपायसे साध्य होसकताहै अर्थात् कोई पुरुष यंत्र मंत्र आदिसे साध नहींसकता–सोई समाधिप्रकरणमें पतंजलिका सूत्रहै कि, उस समाधिके समय क्लेशकी निवृत्ति होती है ॥ ८ ॥

मूल–न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तःसमाधिना ॥ ९ ॥

---

१ तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । २ ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।

भाषार्थ–समाधिसे युक्त योगी सुरभि, असुरभिरूप गंध और मधुर आम्ल, लवण, कटुक, कषाय तिक्तरूप छः प्रकारका रस, और शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्ररूप सातप्रकारका रूप और शीत, उष्ण, अनुष्णाशीतरूप, तीनप्रकारका स्पर्श और शंख, दुंदुभी, समुद्र, मेघ इनका बाह्य शब्द, और नादरूप भीतरका शब्द, और अपना देह अन्य अन्य पुरुष इन पूर्वोक्त गंध आदिको नहीं जानता है ॥ ९ ॥

मूल--चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥११०॥

भाषार्थ–जिस योगीका चित्त आच्छादक तमोगुणके अभावसे सोवता नहो, क्योंकि त्रिगुण अंतःकरणमें जिस समय सत्वगुण और रजोगुणका तिरस्कार करके सब इंद्रियोंका आच्छादक तमोगुण अधिक होताहै उस समय अंतःकरणका विषयाकाररूप परिणाम न होनेसे सुप्त अवस्था (शयन) कहाती है और इंद्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होनेसे योगीको जाग्रतभी न हो, और स्मरण विस्मरणसे वर्जितहो, अर्थात संपूर्ण वृत्तियोंके और उद्बोधकके अभावसे स्मृतिरहित हो और स्मृतिका जनक जो संस्कार उसके अभावसे विस्मृतिसे रहित हो और संस्कार शेष चित्तके होनेसे नाशकोभी प्राप्त नहो और वृत्तियोंकी उत्पत्तिके अभावसे उदय (उत्पन्न) भी नहोताहो वहभी योगी मुक्तही है ॥ ११० ॥

मूल--न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
न मानं नापमानं च योगी युक्तःसमाधिना ॥११ ॥

भाषार्थ–समाधिसे युक्त योगी शीत, उष्णपदार्थको और ताडना आदि दुःखको और सुरभि चंदनआदिके लेपनरूप सुखको और मान अपमानको अर्थात दूसरेके किये सत्कार और अनादरको नहीं जानताहै॥ ११॥

मूल–स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ॥
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥१२॥

भाषार्थ–जो योगी स्वस्थअवस्थामें अर्थात् इंद्रिय और अंतःकरणकी प्रसन्नतामें स्थित होकर जाग्रत अवस्थामेंभी देह और इंद्रियोंके व्यापारसे शून्य सुप्तके समान और बाहिरकी वायुका देहमें ग्रहणरूप निःश्वास और देहमें स्थितवायुका बाहिर निकासनेरूप उच्छ्वास इन दोनोंसे रहित होकर निश्चल टिकता है वह योगी निश्चयसे मुक्तही है और दत्तात्रयने जीवन्मुक्तका रूप यह कहा है कि, निर्गुण[1]के ध्यानमें संपन्न मनुष्य समाधिका अभ्यास करे फिर बारह दिनसेही समाधिको प्राप्त होता है और बुद्धिमान् मनुष्य वायुको रोककर निश्चयसे जीवन्मुक्त होता है ॥ १२ ॥

मूल–अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना॥१३॥

भाषार्थ–और समाधिसे युक्त योगी संपूर्णशस्त्रोंसे वध करनेके अयोग्य होता है और सब देहधारियोंको वश आदि करनेमें अशक्य है और वशीकरण, मारण, उच्चाटन है फल जिनके ऐसे मंत्र यंत्रोंसेभी वशमें करने अयोग्य है इसप्रकारके योगीको अनेकप्रकारके जो विघ्न होते हैं उनको दिखाते हैं. दत्तात्रेयने कहाहै कि, पहिला[2] विघ्न आलस्य और दूसरा धूर्तोंकी सभा और तीसरा मंत्रसाधन और चौथा धातुवाद ये योगके ज्ञाताओंने विघ्नकहे हैं और मार्कंडयपुराणमें ये विघ्न[3]कहे हैं कि, योगीकी

---

१ निर्गुणो ध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् । वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ।
२ आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठीच तृतीयोमंत्रसाधनम् । चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदोविदुः । ३ उपसर्गाः प्रवर्त्तंते दृष्ट्वा ह्यात्मनि योगिनः । येतांस्तेसंप्रवक्ष्यामि समासेन निबोधमे । काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्योयोऽभिवांछति । स्त्रियोदानफलं विद्यां मायांकुप्यं धनंवसु । देवत्वममरेशत्वं रसायनचयः क्रियाम् । मेरुप्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा। श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्त्ताच्च देवपित्रर्चनादपि । अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति । विघ्नमित्थं प्रवर्त्तंत यत्नाद्योगी निवर्तयेत।ब्रह्मसंधिमनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते

आत्मामें देखनेसे जो विघ्न होते हैं उनको मैं तेरे प्रति संक्षेपसे कहताहूं तू उनको सुन—कामनाकेलिये कर्म और कामनाओंकी जो मनुष्य वांछा करता है स्त्री, दानका फल, विद्या, माया, गुप्त और प्रकट धन, देव, और इंद्र होना और रसायनरूप देहकी क्रिया, मेरु, यत्न, यज्ञ, जल और अग्निमें प्रवेश श्राद्ध और शक्तिसे दान, फल और नियम, और उपवास वापीकूपतडागरादि पूर्त, देव और पितरोंका पूजन, आतिथि और कर्म इनसे युक्त हुआ योगी जो कुछ वांछा करता है उसके योगमें विघ्न प्रवृत्त हो जाताहै इससे योगी यत्नोंसे विघ्नको निवृत्तकरै, ब्रह्ममें आसक्त मनको करताहुआ योगी विघ्नोंसे छूटता है और पद्मपुराणमें लिखाहै कि, जब इन विघ्नोंसे जिस योगीके मनमें विक्षेप नहो वह अति दुर्लभ उस परब्रह्मको प्राप्त होताहै, योगभास्करमें लिखा है कि, सात्विकी धीरताको करके सत्वगुणसे भलीप्रकार स्थिर और मनसे निर्गुणका ध्यान करता हुआ योगी विघ्नोंसे अवश्य छूटता है. इसप्रकार योगका उपासक और इंद्र आदिके पदकी इच्छासे रहित, और सिद्धि आदिकोंकी वासनाका त्यागी मुनि जीवन्मुक्त होताहै. विघ्न अनेक प्रकारके हैं परंतु विस्तारके भयसे यहां नहीं कहे हैं और वे सब विघ्न विष्णु और शिवजीके ध्यानसे योगियोंको निवारण करने योग्य हैं ॥ १३ ॥

मूल—यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिंदुर्नभवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ॥
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः॥११४॥

---

१ यदेभिरंतरायैर्न क्षिप्यतेऽस्यहि मानसम् । तदाप्नेतमवाप्नोति परंब्रह्मातिदुर्लभम् । २ सात्विकीं धृतिमालंब्य योगीसत्त्वे नसुस्थिरः । निर्गुणं मनसाध्यायन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते । एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिःस्पृहः । सिद्ध्यादिवासनात्यागी जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः । विस्तरस्यभियानोक्ताः संतिविघ्नाह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोर्वारणीयाहि योगिना ।

भावार्थ–अब अयोगियोंको ज्ञानका निराकरण करतेहुए योगियों-काही ज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं कि, जबतक सुषुम्नाके मार्गमें बहताहुआ प्राणवायु ब्रह्मरंध्रमें प्रविष्ट होकर स्थिर नहीं होता, क्योंकि सुषुम्नामें नहीं बहते हुए प्राणवायुको असिद्ध कहते हैं सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जबतक अपने मार्गसे वायु सुषुम्नामें प्राप्त होकर निश्चल नहो–कर्मवशके अनुयायी उस वायुको असिद्ध जाने–और जीवनका आधाररूप जो प्राण उसके दृढबंधन अर्थात् कुंभकसे दृढ करनेसे जबतक बिंदु (वीर्य) स्थिर नहीं होताहै और प्राणवायुकी स्थिरतासे बिंदुकी स्थिरता इसी ग्रंथमें कहे आये हैं कि, मनकी स्थिर-तासे वायु और वायुकी स्थिरतासे बिंदुकी स्थिरता होतीहै वह न हो-यतो योगी असिद्ध होताहै सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, तबतक वृद्ध और असिद्ध यह सांसारिक जन मानाहै इतने रसेंद्र जो ब्रह्मरूपहै वह देहमें स्थितहो अर्थात अपने स्थानसे पतित होकर देहमें आजाय और ब्रह्मचर्यसे हीन उस मनुष्यको असिद्ध जानै और जरामरणसे युक्त और संपूर्ण क्लेशोंका आश्रय होताहै और जबतक चित्तरूप तत्त्वध्यानमें ध्येय चित्त नहीं होताहै अर्थात स्वाभाविक ध्येयाकार जो वृत्तियोंका प्रवाह उससे सहज सदृश प्राणके बंधनसे नहीं होताहै और वायुकी स्थिरतासे चित्तकी स्थिरता अमृतसिद्धिमें कही है कि, जब यह वायु सुषुम्नाके योगसे मध्यमामें प्रविष्ट होजाताहै तब बिंदु और चित्त ये दोनों वायुके संग होकर मरजाते हैं और इसके अभावमें असिद्धताभी अमृतसिद्धिमें

---

१ यावद्धिमार्गतो वायुर्निश्चलोनैवमध्यगः । असिद्धंतं विजानीयाद्वायुं कर्म-वशानुगम् । २ मनस्थैर्यैःस्थिरो वायुस्ततो बिंदुःस्थिरोभवेत् ।

३ तावद्वृद्धोप्यसिद्धोसौ नरः सांसारिकोमतः। यावद्भवति देहस्थोरसेंद्रो ब्रह्मरूपकः । असिद्धं तंविजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम् । जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयम् । ४ यदासौ म्रियते वायुर्मध्यमांमध्ययोगतः । तदा बिंदु-श्च चित्तं च म्रियते वायुनासह ।

कही है कि, इतने बाह्य और भीतरकी वस्तुमें चित्तका स्पंदन (चेष्टा)होताहै कर्मके गुणोंसे युक्त उस चित्तको असिद्ध जानै तबतक सो यह ज्ञान दंभमिथ्याप्रलाप होताहै अर्थात् मैं जगत्में पूज्य हूंगा इसप्रकार दंभपूर्वक ज्ञानके कथनसे बुद्धिसे मिथ्या भाषणही होताहै क्योंकि प्राण बिंदु चित्त इनकी जयके अभावसे ज्ञानका अभाव होताहै और उससे जन्ममरणरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होसकती है सोई अमृतासिद्धिमें कहा है कि, जब यह प्राणवायु चलताहै तब बिंदुभी चल कहाहै और जिसके अंगमें बिंदु चंचलहै उसका चित्तभी चंचल होता है और बिंदु, चित्त, वायु इन तीनोंके चंचल होनेपर संपूर्ण जगत् उत्पन्न होताहै और मरताहै यह वचन सत्यहै योगबीजमेंभी कहा है कि, यदि चित्त नष्ट हुआ भासै तो वहां वायुकाभी नाश प्रतीत होताहै यदि चित्त वायुका नाश न होय तो उसको शास्त्रकाज्ञान और आत्माकी प्रतीति और गुरु और मोक्ष ये नहीं होते हैं–इससे यह सूचित किया कि–प्राण, बिंदु, मन इन तीनोंके जयमें ज्ञानके द्वारा योगीकी मुक्ति होई जाती है-सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जिस अवस्थाको वायु प्राप्त होता है उसी अवस्थाको बिंदुभी प्राप्त होजाता है और जिसप्रकार वायु साध्य किया जाता है उसी प्रकारसे बिंदु साध्य किया जाता है और मूर्च्छित हुआ वायु व्याधियोंको हरता है और बंधन किया वायु आकाशगतिको देता है और लयको प्राप्त हुआ निश्चल वायु संपूर्ण सिद्धियोंको करता है और मुक्तिको देता है और जैसी जैसी अवस्था बिंदुकी होती है तैसी २ ही अवस्था चित्तकी होती है–कदाचित् कोई

---

१ यावत्प्रस्पंदतेचित्तं वाह्याभ्यंतर वस्तुषु। असिद्धं तद्विजानीयाच्चित्तं कर्म गुणान्वितम्। २ चलत्येष यदा वायुस्तदाबिंदुश्चलः स्मृतः। बिंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम्। चले बिंदौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा। जायते म्रियते लोकः सत्यंसत्यमिदंवचः। ३ चित्तं प्रणष्टं यदि भासते वै तत्रप्रतीतो मरुतोपिनाशः। न वा यदिस्यान्नतुतस्यशास्त्रेनात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः। ४ यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिंदुस्तामधिगच्छति। यथाहिसाध्यते वायुस्तथा बिंदुप्रसाधनम्। मूर्च्छितो हरते व्याधिं बद्धः खेचरतांनयेत। सर्वसिद्धिकरो लीनोनिश्चलो मुक्तिदायकः॥ यथावस्थाभवेद्बिंदोश्चित्तावस्था तथा तथा।

शंका करै कि, मनुष्योंके कल्याण करनेकी इच्छासे ज्ञान कर्म भक्ति ये तीन योग मैंने कहे हैं अन्य कोई उपाय किसी शास्त्रमें भी नहीं हैं इसे भगवान्के वाक्यसे तीन मोक्षके उपाय हैं तो योगही मोक्षका उपाय कैसे कहा ? सो ठीक नहीं, क्योंकि उनका योगके अंगोंमें अंतर्भाव है-- सोई दिखाते हैं कि–आत्मा, देखने, सुनने मानने, निदिध्यासन करने योग्य है । इसे श्रुतिसे परमपुरुषार्थका साधन जो आत्माका साक्षात्कार है उसके हेतु, श्रवण, मनन, निदिध्यासन कहे हैं. उन तीनोंमें श्रवण मनन ये दोनों नियमके अंतर्गत होनेसे स्वाध्याय (पठन) में अंतर्गत होते हैं और मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं और वह अध्ययनभी तात्पर्यार्थके निश्चय पर्यंत लेना वह तात्पर्यार्थके निर्णयका श्रवण मननसे होता है. इससे श्रवण मननका स्वाध्यायमें अंतर्भाव है–और नियमोंके विवरणमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्योंने वेदांतका श्रवण सिद्धांतश्रवण कहाहै इससे स्पष्टही श्रवणका नियममें अंतर्भाव कहाहै–और जिसने वेद पढाहो सूत्र वा पुराण वा इतिहास पढेहों इनके अध्ययन और उत्तम अभ्यासको जप कहते हैं इसे युक्तिसे निरंतर अनुचिंतन है लक्षण जिसका ऐसा जो उत्तम अभ्यास रूप मनन है उसकाभी नियममें अंतर्भाव कहाहै–और विजातीय प्रतीतिके निरोधपूर्वक सजातीय प्रत्ययका प्रवाहरूप जो निदिध्यासन है उसकाभी पूर्वोक्त ध्यानमें अंतर्भाव है. क्योंकि वहभी तिसके परिपाकरूप समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है–और ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्मका अनुष्ठानरूप जो कर्मयोग है उसका नियमके अंतर्गत इस पतंजलिके कहेहुए क्रियायोगमें अंतर्भाव है कि, तप, स्वाध्याय, ईश्व-

---

१ योगास्त्रयोमयाप्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चनोपायोन्योऽस्ति कुत्रचित् । २ आत्मा वा अरेद्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः । ३ सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैः । ४ अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । यदेष्वध्ययनंयश्च सदाभ्यासोजपःस्मृतः । ५ तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

कही है कि, इतने बाह्य और भीतरकी वस्तुमें चित्तका स्पंदन (चेष्टा)होताहै कर्मके गुणोंसे युक्त उस चित्तको असिद्ध जानै तबतक सो यह ज्ञान दंभमिथ्याप्रलाप होताहै अर्थात् मैं जगत्में पूज्य हूंगा इसप्रकार दंभपूर्वक ज्ञानके कथनसे बुद्धिसे मिथ्या भाषणही होताहै क्योंकि प्राण बिंदु चित्त इनकी जयके अभावसे ज्ञानका अभाव होताहै और उससे जन्ममरणरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होसकती है सोई अमृतासिद्धिमें कहा है कि, जब यह प्राणवायु चलताहै तब बिंदुभी चल कहाहै और जिसके अन्नमें बिंदु चंचलहै उसका चित्तभी चंचल होता है और बिंदु, चित्त, वायु इन तीनोंके चंचल होनेपर संपूर्ण जगत् उत्पन्न होताहै और मरताहै यह वचन सत्यहै योगबीजमेंभी कहा है कि, यदि चित्त नष्ट हुआ भासै तो वहां वायुकाभी नाश प्रतीत होताहै यदि चित्त वायुका नाश न होय तो उसको शास्त्रकाज्ञान और आत्माकी प्रतीति और गुरु और मोक्ष ये नहीं होते हैं—इससे यह सूचित किया कि—प्राण, बिंदु, मन इन तीनोंके जयमें ज्ञानके द्वारा योगीकी मुक्ति होई जाती है-सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जिस अवस्थाको वायु प्राप्त होता है उसी अवस्थाको बिंदुभी प्राप्त होजाता है और जिसप्रकार वायु साध्य किया जाता है उसी प्रकारसे बिंदु साध्य किया जाता है और मूर्च्छित हुआ वायु व्याधियोंको हरता है और बंधन किया वायु आकाशगतिको देता है और लयको प्राप्त हुआ निश्चल वायु संपूर्ण सिद्धियोंको करता है और मुक्तिको देता है और जैसी जैसी अवस्था बिंदुकी होती है तैसी २ ही अवस्था चित्तकी होती है—कदाचित् कोई

---

१ यावत्प्रस्पंदतेचित्तं बाह्याभ्यंतरवस्तुषु । असिद्धं तद्विजानीयाच्चित्तं कर्म गुणान्वितम् । २ चलत्येष यदा वायुस्तदाबिंदुश्चलः स्मृतः । बिंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम्। चले बिंदौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा । जायते म्रियते लोकः सत्यंसत्यमिदंवचः । ३ चित्तं प्रणष्टं यदि भासते वै तत्रप्रतीतो मरुतोपिनाशः । न वा यदिस्यान्नतुतस्यशास्त्रेनात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः । ४ यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिंदुस्तामधिगच्छति । यथाहिसाध्यते वायुस्तथा बिंदुप्रसाधनम् । मूर्च्छितो हरते व्याधिं बद्धः खेचरतांनयेत । सर्वसिद्धिकरो लीनोनिश्चलो मुक्तिदायकः ॥ यथावस्थाभवेद्विंदोश्चित्तावस्था तथा तथा ।

शंका करे कि, मनुष्योंके कल्याण करनेकी इच्छासे ज्ञान कर्म भक्ति ये तीन योग मैंने कहे हैं अन्य कोई उपाय किसी शास्त्रमें भी नहीं हैं इसे भगवान्के वाक्यसे तीन मोक्षके उपाय हैं तो योगही मोक्षका उपाय कैसे कहा ? सो ठीक नहीं, क्योंकि उनका योगके अंगोंमें अंतर्भाव है-- सोई दिखाते हैं कि-आत्मा, देखने, सुनने मानने, निदिध्यासन करने योग्य है । इसे श्रुतिसे परमपुरुषार्थका साधन जो आत्माका साक्षात्कार है उसके हेतु, श्रवण, मनन, निदिध्यासन कहे हैं. उन तीनोंमें श्रवण मनन ये दोनों नियमके अंतर्गत होनेसे स्वाध्याय (पठन) में अंतर्गत होते हैं और मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं और वह अध्ययनभी तात्पर्यार्थके निश्चय प[illegible] लेना वह तात्पर्यार्थके निर्णयका श्रवण मननसे होता है. इससे श्रवण मननका स्वाध्यायमें अंतर्भाव है-और नियमोंके बिवरणमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्योंने वेदांतका श्रवण सिद्धांतश्रवण कहाहै इससे स्पष्टही श्रवणका नियममें अंतर्भाव कहाहै-और जिसने वेद पढाहो सूत्र वा पुराण वा इतिहास पढेहों इनके अध्ययन और उत्तम अभ्यासको जप कहते हैं इसे युक्तिसे निरंतर अनुचिंतन है लक्षण जिसका ऐसा जो उत्तम अभ्यासरूप मनन है उसकाभी नियममें अंतर्भाव कहाहै-और विजातीय प्रतीतिके निरोधपूर्वक सजातीय प्रत्ययका प्रवाहरूप जो निदिध्यासन है उसकाभी पूर्वोक्त ध्यानमें अंतर्भाव है. क्योंकि वहभी तिसके परिपाकरूप समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है-और ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्मका अनुष्ठानरूप जो कर्मयोग है उसका नियमके अंतर्गत इस पतंजलिके कहेहुए क्रियायोगमें अंतर्भाव है कि, तप, स्वाध्याय, ईश्व-

---

१ योगास्त्रयोमयाप्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चनोपायोन्योस्ति कुत्रचित् । २ आत्मा वा अरेद्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः । ३ सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैः । ४ अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । यद्देष्वध्ययनंयश्च सदाभ्यासोजपःस्मृतः । ५ तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

रका प्रणिधान (स्मरण) इनको क्रियायोग कहते हैं और वे तीनों ईश्वर गीतामें इन वचनोंसे कहे हैं कि, उपवास पराक और कृच्छ्रचांद्रायण आदि व्रत इनसे जो शरीरका शोषण वही तपस्वियोंने उत्तम तप कहा है और मनुष्योंके अंतःकरणकी शुद्धिका कर्ता जो वेदान्त, शतरुद्रीय प्रणव आदिका जपहै वही बुद्धिमान् मनुष्योंने स्वाध्याय कहाहै और स्तुति, स्मरण, पूजा इनसे और वाणी मन काया कर्म इनसे जो भलीप्रकार निश्चल भक्ति वही ईश्वरपूजन कहाताहै और क्रियायोग परंपरासे समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वाराही मोक्षका हेतु होनेसे समाधिकी भावनाकेलिये और क्लेशोंको दूर करनेकेलिये है. यह बात उत्तरसूत्रसे पतंजलिने स्पष्ट कीई है जिससे अंतःकरण भगवान्के आकार होजाय उसे भक्ति कहते हैं, इसकारण व्युत्पत्तिसे वह नौ ९ प्रकारकी साधन भक्ति कही वह इस श्लोकमें वर्णन कीई है कि विष्णुका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दासता, मित्रता और आत्माका निवेदन, यह नव प्रकारकी भक्ति होती है और उस भक्तिका ईश्वरके प्रणिधानरूप नियममें अंतर्भावहै और उस भक्तिकीभी हेतुता समाधिमें पतंजलिने इस सूत्रसे कही है कि, ईश्वर विषयक जो भक्तिविशेषरूपप्रणिधान उससे समाधिका लाभ (फल) होताहै और अंतःकरणका भगवदाकारतारूप जो भजन उसे भक्ति कहतेहैं. इस भावव्युत्पत्तिसे तो फलभूत भक्ति कही है उसकोही प्रेम भक्ति कहते हैं उसका लक्षण नारायणतीर्थोंने यह कहाहै कि, ईश्वरके चरणारविंदमें जो एकाग्रतासे निरवच्छिन्न जो अत्यंत प्रेमका प्रवाह उसको प्रेमभक्ति कहतेहैं और मधुसूदनसरस्वतियोंने तो भक्तिका यँह लक्षण कहाहै

---

१ उपवासपराकादिकृच्छ्रचांद्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तपसातप- उत्तमम् । २ वेदांतशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः। सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते । ३ स्तुतिस्मरणपूजादिवाङ्मनःकायकर्मभिः । सुनिश्चला भवेद्भक्ति- रेतदीश्वरपूजनम् । ४ श्रवणं कीर्त्तनंविष्णोःस्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । ५ ईश्वरप्रणिधानाद्वा । ६ प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदविषयैककांतिकात्यंतिक प्रेमवाहोऽविच्छिन्नः । ७ द्रवीभावपूर्विकामनसोभगवदाकारतारूपासविकल्पिक वृत्तिर्भक्तिः ।

कि, द्रव होकर मनका जो भगवदाकाररूप सविकल्पवृत्ति उसको भक्ति कहते हैं वह भी आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है क्योंकि इन श्रुति और स्मृतियोंमें यह लिखाहै कि—श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, योगसे आत्माको जानो और भक्तिसे मुझे जानताहै और भक्त तो यह कहते हैं कि, सुखही पुरुषार्थहै इससे दुःखसे असंभिन्न जो सर्वोत्तम सुखरूप प्रेम भक्तिहै वही पुरुषार्थ है उस भक्तिका संप्रज्ञात समाधिमें अंतर्भाव है--इससे यह सिद्ध भया कि, अष्टांगयोगसे भिन्न परम पुरुषार्थका कोईभी साधन नहींहै.भावार्थ यह है कि,इतने गमन करता हुआ प्राण वायु सुषुम्नाके मार्गमें प्रविष्ट नहो, और प्राणवायुके दृढबंधनसे इतने बिंदु स्थिर नहो और इतने चित्त ध्यानके विषय ध्येयकी तुल्य नहो तबतक ज्ञान दंभसे मिथ्याप्रलापरूप होताहै ॥ ११४ ॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्र विरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां श्रीयुत पण्डित—रामरक्षाङ्गज लाँखग्रामनिवासि पण्डित—मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशःसमाप्ति-मगात् ॥ श्रीरस्तु ।

---

१ श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि भक्त्यामामभिजानाति ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

